सस्ती ग्रन्थमाला का २२ वाँ पुष्प

भावना कुसुम गुच्छ

१३२५, लेखक—

विद्वद्वर पं० उग्रसेन जैन एम. ए. एल. एल. बी.

(गोहाना निवासी) रोहतक

प्रकाशक—

सस्ती ग्रंथमाला कमेटी

श्री दि० जैन नया मन्दिर, धर्मपुरा, देहली

प्रथमावृत्ति	वीर निर्वाण सम्वत	मूल्य
१०००	२४७६	दस आने

समर्पण

जगद्वंद्य अध्यात्म-प्रेमी परम तपोनिधि परम वीतराग गुरु

श्री १०८ नमिसागरजी महाराज

के

कर कमलों में सादर भक्ति-भावयुत

समर्पित

विनीत—

आपका चरण चंचरीक

उग्रसेन जैन



श्री १०८ दि० जैनाचार्य नमिसागरजी महाराज

लेखक के दो शब्द

भावना कुसुमगुच्छ नामक पुस्तक कई वर्ष पहिले मैं ने लिखी थी। इस पुस्तक में जैसा इस के नाम से प्रगट है, उन श्रेष्ठ भावनाओं का वर्णन किया गया है। जिन के बार बार भावने से दुर्ध्यान का अभाव होता है और मनुष्य के जीवन में सुख शान्ति का प्रसार होता है। वास्तव में सफल धर्म का मूल भावना है। भावनाओं से ही परिणामों की उज्ज्वलता होती है, भावना से ही मिथ्यादर्शन का अभाव होता है। भावना से ही व्रतों के पालने में दृढ़ता आती है। भावना से ही वीतराग भाव की वृद्धि होती है भावना से ही अशुभ ध्यान का अभाव हो कर शुभ ध्यान की वृद्धि होती है। भावना से ही आत्मानुभव होता है जो साक्षात् मोक्ष का प्रबल कारण है।

इस ग्रंथ में पहिले पांच व्रतों की २५ भावनाओं का वर्णन किया गया है। इन भावनाओं के भाने से व्रतों में दृढ़ता के साथ इन्द्रिय भोग और शरीरादि के प्रति उदासीनता आती है, हिंसादिक ५ पापों को दुःखरूप चिंतवन करने से अहिंसादिक सद्गुणों की वृद्धि होती है।

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ इन चार भावनाओं का वर्णन भी संक्षेप में किया गया है, ये भावनायें संसार में यूनिवर्सल Universal Brotherhood ब्रादरहुड (विश्व बंधुत्व) की जड़ हैं। ये भावनायें जीव को आर्त्त तथा रौद्र ध्यान से मुक्त कर के धर्म-ध्यान में प्रवेश कराने वाली हैं। इन भावनाओं के भाने से मन स्थिर हो जाता है। समता जागृत होती है, जो शांतरस पीने के इच्छुक हैं उन्हें इस भावना रूप अमृत को बार बार पीना चाहिये, इस से अनिर्वचनीय आनंद आता है।

दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाओं का भी इसमें क्रमशः वर्णन किया गया है। ये भावनायें साक्षात् तीर्थंकर प्रकृति का बंध कराने वाली हैं। षोडश कारण भावना संसार समुद्र से पार कराने वाली हैं। सभी पापों का क्षय करने वाली हैं। विभाव-मल को विध्वंस करने वाली हैं। इनके श्रवण पठन तथा मनन करने से संसार बन्धनों से विच्छेद होता है। ये साक्षात् निर्वाण का कारण हैं। षोडश कारण भावनाओं के द्वारा तीसरे भव में निर्वाण पद की प्राप्ति हो सकती है।

अनित्यादि बारह वैराग्य भावनाओं का वर्णन भी इसमें किया गया है इन भावनाओं का समावेश संस्थान विचय धर्मध्यान में होता है। ये भावनायें वैराग्य की मातायें ही हैं। तीर्थंकर प्रभु भी इनका स्वरूप चिंतवन कर संसार शरीर और भोगों से विरक्त हुये हैं। ये प्राणीमात्र का हित करने वाली हैं, अनेक दुःखों से व्याप्त संसारी प्राणियों के लिये ये भावनायें ही उत्तम शरण हैं। ये भावनायें ही परमार्थ को दिखाने वाली हैं, ये ही तत्वस्वरूप का निर्णय करने वाली और सम्यक्त गुण को विकसित करने वाली हैं तथा अशुभ ध्यान को नष्ट करने वाली हैं जैसे माता के समान पुत्र का अन्य और कोई हितैषी नहीं है उसी तरह एक संसारी प्राणी का इन भावनाओं के समान अन्य कोई हित नहीं है ये ही द्वादशांग का सार है।

आगे चल कर अनेकांत भावना तथा समयसार भावना का भी कुछ दिग्दर्शन कराया है। अनेकान्त को जानना और समझना सत्य को जानने और पहिचानने के लिये अत्यंत आवश्यक है। अनेकान्त का रहस्य बड़ा गूढ व जटिल है अनेकान्त के आधार पर ही तत्व ज्ञान में प्रगति होती है ये ही पारस्परिक विरोध को मिटाने तथा सुख शान्ति का अनुभव कराने में एक अमोघ शक्ति है।

समयसार भावना के सम्बन्ध में कुछ लिखा गया है वास्तव में जब किसी सद्गुरु के उपदेश से एक भी भव्य जीव को निजस्वरूप का ज्ञान होने पर मैं शुद्ध हूँ, मैं शिव रूप हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, मैं दृष्टा हूँ, मैं अविनाशी अविकार परम रस का धाम हूँ, मैं परम पवित्र हूँ, मैं समयसार स्वरूपी हूँ। इस प्रकार की भावना में दृढ़ होकर संसारी जीव संकल्प विकल्प छोड़ता हुआ एकांत स्थान में, सहज रूप में, निज स्वाभाविक परिणति में परिणत होकर जब स्थिर होजाता है तब एकत्व अवस्था प्राप्त होती है। स्वयं सिद्ध शुद्ध बुद्ध परमात्मा का अनुभव होता है उस अनुभव से निजात्म सुख प्राप्त होता है। चिदानन्द, सहजानन्द, परमानन्द प्राप्त होता है। मुमुक्षुओं को विभाव भावना या पर्याय भावनाओं को छोड़कर शुद्ध द्रव्यबुद्धि धारण करना चाहिये। और शुद्ध समयसार भावना में तन्मय होकर मोक्ष सुख प्राप्त करने के मार्ग पर लगना चाहिए।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है जो जैसी भावना करता है उसको वैसा ही फल मिलता है। मानव जन्म को पाकर नीच भावनायें क्यों की जांय। हमारी भावनायें ऐसी क्यों न हों जिनका आश्रय लेने से हम स्वयं अपना कल्याण कर सकें और दूसरों का भी इन भावनाओं का आश्रय लेकर हित हो सके। इसी हेतु से इस पुस्तक निर्माण करने का मैंने साहस किया है। आजकल के भयानक समय में तो इन भावनाओं के सुनने, पढ़ने तथा अपने जीवन में घटित करने की बड़ी आवश्यकता है। इस पुस्तक का निर्माण बहुत कुछ रत्नकरण्ड श्रावकाचार (सदासुखजी) तथा सहजसुख साधन (ब्र० शीतलप्रसादजी) के आधार पर है, और भी बहुत सी धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने से इस पुस्तक निर्माण में सहायता मिली है उन सब के विद्वान् लेखकों के प्रति कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

परम तपोनिधि भक्त वत्सल १०८ पूज्य श्री आचार्य नमिसागर

जी महाराज की मेरे ऊपर सदैव अपार कृपा रही है, मेरी हार्दिक भावना है कि मुझे ऐसे गुरुवर्य की भक्ति तथा सेवा का अवसर सदैव मिलता रहे। आपका अप्रेल सन् १९५२ में रोहतक पदार्पण हुआ, उस समय साधारण वार्तालाप के समय आपने लेखक से इस पुस्तक के सम्बन्ध में पूछा तथा बड़े हर्ष के साथ आपने इसके छपवाने के लिये मुन्शी सुमेरचन्दजी जैन अराईजनवीस पानीपत निवासी देहली प्रवासी से अपने द्रव्य से छपवाने को कहा। मुन्शीजी ने गुरुभक्ति से प्रेरित हो आपके आदेश को शिरोधार्य किया। श्री गुरु की असीम कृपा तथा मुन्शीजी के धर्म स्नेह से यह पुस्तक प्रकाशित होकर पाठकों के हाथ में पहुँच रही है। हमें आशा है कि हमारे साधारण हिन्दी भाषा के जानने वाले भाई भी इसे पढ़कर कुछ लाभ उठा सकेंगे। यदि मेरे तुच्छ से प्रयत्न से स्वाध्याय प्रेमियों को कुछ भी धर्म-लाभ पहुँच सका तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

सैन्ट्रल इण्डिया प्रेस के मालिक भाई मनोहरलालजी ने जो इस पुस्तक को समय पर ठीक ठीक प्रकाशित करने में तत्परता दिखाई है मैं उनके प्रयत्न की सराहना करता हूँ। श्री पं० रवीन्द्र-नाथजी शास्त्री न्यायतीर्थ मुख्य धर्माध्यापक-जैन स्कूल रोहतक से जो भूमिका लेखन आदि में सहायता मिली है मैं उनका भी आभार मानता हूँ।

लेखक—

उग्रसेन जैन M. A. L L. B.

गोहाना, रोहतक।

स्वर्गीय ला० दातारामजी पानीपत



मुन्शी सुमेरचन्द्र जैन अर्जी नवीस
२५६६, छत्ता प्रतापसिंह देहली ने
यह पुस्तक अपने पूज्यपिताजी की
पुण्य स्मृति में प्रकाशित कराई ।

विषयानुक्रमणिका

शुद्धयाशुद्धि–पत्र

सं०	अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	लाइन
१	पूवक	पूर्वक	३	१४
२	विभति	विभूति	६	२
३	जीवन	जीव	१६	१४
४	अनभव	अनुभव	३७	१०
५	कम	कर्म	३७	२०
६	का	को	३८	१०
७	शक्तितस्त्याग	शक्तिस्त्याग	४२	१८
८	लाभादिक	लोभादिक	४६	१४
९	शरीरिक	शारीरिक	५३	२५
१०	Conquror	Conqueror	६०	१८
११	पाएडक	पाएडुक	६१	२३
१२	Simultancury	Simultaneously	६२	२५
१३	प्रबादी	प्रमादी	७०	१४
१४	होज।ने	होजावे	७१	१२
१५	बलवान्	जो बलवान्	७१	२२
१६	में	ने	८७	२६
१७	जोवन	जीवन	९०	१९
१८	लगाकर	लगाया	९७	१३
१९	अवुक्तव्य	अवक्तव्य	१०७	८
२०	Perneetation	Permautation	१०७	२१
२१	सदा	सप्त	१०८	२३
२२	चेतैना	चेतना	११३	५
२३	चिद्रपः	चिद्रूप	१२४	२४
२४	स्वात्मानभव	स्वात्मानुभव	१३८	२२

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

भावना कुसुम गुच्छ

पंच परमपद प्रणम कर, नमूं शारदा माय।
लिखूं "भावना कुसुम गुच्छ," निज पर को सुखदाय ॥

भावना समस्त धर्म का मूल है। भावना ही से परिणामों की उज्ज्वलता होती है, भावना से ही मिथ्यात्व का अभाव होता है, भावना से ही व्रतों के प्रति दृढ़ता आती है, भावना से ही वीतरागता की वृद्धि होती है। भावना से ही अशुभ ध्यान का अभाव होता है और शुभ ध्यान की प्राप्ति होती है। भावना से ही आत्मानुभव होता है। इत्यादि कितने ही गुणों का विकास भावना द्वारा आत्मा में होता है।

भावना से ही मनुष्य का जीवन सुधरता है या बिगड़ता है। एक सम्यक्दृष्टि व्रति श्रावक अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, परिग्रह परिमाणाणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत के पालन करते हुवे अपने व्रतों को सुरक्षित रखने के लिये तथा उनमें दृढ़ता लाने के लिये भावनायें भाया करता है। पहिले उनका ही वर्णन किया जाता है:—

अहिंसाणुव्रत की भावनायें

अहिंसाणुव्रत को पालन करने वाला अपने मन में से अन्याय के विषयों को भोगने की इच्छा का अभाव करता है, दुष्ट संकल्पों को त्यागता है। मान कषाय के वशीभूत हो अपनी उच्चता नहीं चाहता, उसकी इच्छा यह नहीं होती कि दूसरे प्राणियों को कष्ट में देख कर खुश हो। यह कदापि नहीं चाहता कि दूसरों के इष्ट वियोग हो जावे, उनके कारोबार में विघ्न हो जावे, उनका

मान भंग और तिरस्कार हो जावे, उनके रोग हो जावे उनके व्यापार में हानि हो जावे, उनका धन दौलत लुट जावे, उनके कुटुम्ब में रोगादिक हो जावें, किसी न किसी प्रकार उनको हानि पहुँचाई जावे। इस प्रकार के दुष्ट विचार वह अपने मन में कदापि नहीं करता। ऐसी दुर्भावनाओं को अपने मन में फटकने नहीं देता, अपने मन को वश में रखता है।

वह दूसरों को ठेस पहुँचाने वाले वृथा हास्यवचन अपने मुख से नहीं निकालता। उसके वचन मीठे और हितकारी होते हैं, कोई अभिमान के भरे वचन नहीं कहता। परस्पर में तकरार कराने वाले, झगड़ा कलह बढ़ाने वाले वचन नहीं कहता, कोई ऐसे वचन ज़बान पर लाता नहीं जिनसे उसका अपना या दूसरों का अपयश फैले, वह अपनी ज़बान को वश में रखा करता है अपने वचनों पर उसे पूरा क़ाबू (Control) होता है।

वह उद्धतता के साथ चलता फिरता नहीं, वह अपने मार्ग को देख भाल कर चलता है, चलते हुवे त्रस जीवों की विराधना नहीं करता, हरे घास चारा तथा कीचड़ आदि को टाल कर चलता फिरता है। ऊपर चढ़ना, नीचे उतरना, किसी चीज को उल्लंघना इत्यादिक क्रियाओं को वह बड़ी सावधानता पूर्वक करता है। अपने को तथा दूसरे जीवों को कोई बाधा न पहुँचने पावे, अपनी शक्त्यनुसार ही चला फिरा करता है, ऐसा नहीं कि उसे खेद हो जावे, उसके अपने शरीर में हाथ पाँवों में या और अंगोपांग में वेदना हो जावे। इस प्रकार वह अपना गमनागमन धीरता पूर्वक बड़ी सावधानता के साथ किया करता है।

गृहस्थ के परिग्रह सम्बन्धी जो भी सामान होता है जैसे अन्न, जल, लकड़ी, बर्तन भांडे, वस्त्राभूषण, चौकी, पलंग, मेज़ कुर्सी आदि, घृत तेल आदि, पीतल, लोहा, मिट्टी, पत्थर आदि

सब ही को बड़े यत्नाचार पूर्वक रखता है, उठाता है। ऐसे ढंग से उन्हें रखता उठाता और काम में लाता है जिससे दूसरे जीवों का घात भी न हो और अपने को भी किसी प्रकार की कोई तकलीफ़ न पहुँचे। किसी प्रकार भी असावधानी हो जाने के कारण उजाड़ बिगाड़ हो जाने से अपने परिणाम संक्लेशित हो जाते हैं, आर्त्तध्यान हो जाता है, जो पापास्रव का कारण होता है। बहुत से लोग बिना देखे भाले पदार्थों को वैसे ही घसीट लिया करते हैं, यह बुरी आदत है, हिंसा का और हानि का कारण है, एक सच्चा अहिंसक ऐसा कभी नहीं करता, उसको अपने ऊपर क़ाबू होता है वह सबही चीज़ों को खूब अच्छी तरह से देख भाल कर ही उठाता रखता है और काम में लाता है।

एक अहिंसाणुव्रत का धारक अपना भोजन पान दिन में सूर्य के प्रकाश में देख भाल कर शुद्धता पूवक करता है, वह विचारता है कि अमुक पदार्थ भक्ष्य है या अभक्ष्य। अभक्ष्य को ग्रहण नहीं करना चाहिये। समस्त भोजन सामग्री को रोशनी में देखभाल कर शोधकर ही काम में लाता है, शान्ति के साथ भोजन पान करता है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव की योग्यता अयोग्यता का विचार करता है। भोजन करते समय उसके गृद्धता नहीं होती।

सत्याणुव्रत की भावनायें

सत्याणुव्रत का धारक क्रोध का त्याग करता है, वह विचारता है कि क्रोधी जीव के सत्य कहना नहीं बनता है। यदि कभी कर्मोदय से बाहरी निमित्त कारण मिल जाने पर क्रोध आ भी जाता है तो वह विचारता है कि अब मेरे परिणामों में क्रोध

के निमित्त से गर्माई आगई है, मुझे अब शान्त रहना योग्य है, बोलना नहीं चाहिये, मौन धारण करना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। इस समय यदि मैं अपने को मौन पूर्वक काबू में कर लेता हूँ तो कषाय नहीं बढ़ेगा, झगड़ा आगे चलेगा नहीं, मेरा क्षमा गुण भी नहीं बिगड़ेगा। इसलिये जब तक मेरी क्रोध की अग्नि शान्त नहीं हो पाती मुझे बोलना ही नहीं चाहिये। ऐसा दृढ़ विचार वह अपने मन में करता है।

वह लोभ कषाय को छोड़ने की भावना किया करता है, वह विचारता है कि लोभ के निमित्त से सत्य वचनों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये वह अन्याय का लोभ छोड़ने की भावना किया करता है।

वह भय का त्याग करता है, विचारता है कि जिसके भय होता है सत्य वचन में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, निर्भय होने पर ही सत्य वचन का पालन हो सकता है, इसलिये वह निर्भय बनने की भावना किया करता है।

सत्याणुव्रत का धारक हास्य को दूर ही से त्याग करता है वह विचारता है कि जिसकी प्रवृत्ति हास्य वचन में होती है उससे सत्य वचन नहीं पलता। वह जिनसूत्र से विरुद्ध कोइ वचन नहीं कहता, जिनसूत्र के अनुकूल ही हितमित वचन बोला करता है।

अचौर्याणुव्रत की भावनायें

अचौर्याणुव्रत का धारक श्रावक ऐसे मकान में रहने की भावना करता है जिसमें व्यसनी, दुष्ट, तीव्रकषायी, कलहकारी मनुष्य न रहते हों, क्यों कि ऐसे पुरुषों के पड़ौस में बसने से परिणामों की शुद्धता नष्ट हो जाती है, दुर्ध्यान पैदा होजाता

है। जिस मकान में किसी का भी कोई झगड़ा न हो और जहाँ वह निराकुलता पूर्वक रह सकता हो उसमें रहने का विचार करता है। वह कभी जबरदस्ती किसी दूसरे के मकान में घुस बैठने का विचार नहीं करता। वह अन्याय और अभक्ष्य का त्याग करता है, और भोगांतराय कर्म के क्षयोपशमानुसार जो भी रस नीरस भोजन उसे मिलता है उसे ही समता पूर्वक लम्पटता रहित ग्रहण कर लेता है। साधर्मी पुरुषों से वाद विसंवाद नहीं करता।

ब्रह्मचर्य व्रत की भावनायें

ब्रह्मचर्य व्रत का धारक स्त्रियों के मनोहर अंगों को रागपूर्वक देखने का त्याग करता है। पूर्वकाल में भोगे हुवे भोगों को याद नहीं करता। पुष्ट रस भोजन नहीं करता। इन्द्रियों में काम विकार उत्पन्न करने वाले भोजन का त्याग करता है। फैशन का त्याग करता है, अपने शरीर के संस्कार का त्याग करता है। शरीर में अंजन, मंजन, अतर फुलेलादि काम-विकार उत्पन्न करने वाले वस्त्राभूषण का त्याग करता है।

परिग्रहत्याग व्रत की भावनायें

परिग्रहपरिमाण व्रत का धारक गृहस्थ अपना जीवन सन्तोष-पूर्वक व्यतीत करने की भावना करता है, वह बहुपाप के कारण अन्याय रूप अभक्ष्य पदार्थों का तो जीवन भर के लिये त्याग कर देता है और अन्तराय कर्म के क्षयोपशमानुसार पंचइन्द्रियों के विषय भोग सम्बन्धी जो भी योग्य सामग्री प्राप्त होती है उसे ही सन्तोषपूर्वक भोगता है। मनोज्ञ विषयों में अति राग नहीं करता और अति आसक्त नहीं होता। अमनोज्ञ विषयों के मिलने पर खेद खिन्न नहीं होता, उनसे द्वेष नहीं करता। दूसरे

प्राणियों की सुन्दर २ अधिक २ विषय भोग की सामग्री को देखकर तथा उनकी विभूति को देखकर उसकी लालसा नहीं करता और न ही ईर्षा करता है।

वास्तव में देखा जावे तो परिग्रह की ममता ही हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, अभक्ष्य भक्षण, बहु आरम्भ, कलह, वैर, ईर्षा, भय, शोक, सन्ताप आदि अनेक दोषों में जीव की प्रवृत्ति कराने वाली है। संसार में जितने भी बन्धन हैं, पराधीनता है, कषाय है और दुःख है सबका मूल परिग्रह है, इसलिये परिग्रह के परिमाण करने की या उसका त्याग करने की भावनाओं द्वारा अपनी आत्मा को उसका त्याग करने के लिये समर्थ बना उसका त्याग करना सिर से बड़े भारी भार का उतारना है। परिग्रह त्यागी निर्बन्ध होता है। परिग्रह त्याग सर्व कल्याण का मूल है। इस प्रकार एक व्रती सद्गृहस्थ हिंसादिक पंच पापों को दुखरूप और महानिंद्य चिन्तवन कर उनको त्यागने की भावना किया करता है और साथ में ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग रूप व्रतों को अपने लिये श्रेय जानकर उनको निर्दोष तथा अधिकाधिक दृढ़ता पूर्वक पालने की भावना करता है।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावनायें

श्रीमद् अमितगति आचार्य सामायिक पाठ में फर्माते हैं:—

"सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ।"

अर्थात् हे देव ! मेरी आत्मा सदैव जगत के प्राणी मात्र से मैत्री

भाव रक्खे, दीन दुखी, संक्लेशित जीवों को देख मेरे हृदय से करुणा स्रोत बहने लगे, गुणीजनों के प्रति मेरी आत्मा में प्रमोद भाव उमड़ आवे। विपरीत स्वभाव वाले जीवों की ओर मेरे भाव माध्यस्थ रहें अर्थात् न तो उनसे राग करूं और न द्वेष।

मैत्री भावना—एकेन्द्रियादिक समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भावना भानी चाहिये, संसार में किसी भी प्राणी के कभी भी किसी दुःख की उत्पत्ति न होवे ऐसी अभिलाषा अपने दिल में रखना मैत्री भावना है। ऐसा विचार होना मन की महान विशालता का सूचक है। सब ही प्राणी अपने २ सुख की इच्छा तो जगत् में किया करते हैं, किन्तु दूसरे प्राणियों की क्या गति होगी, इस पर विचार करने तथा जानने का प्रयास कोई २ विरले महान व्यक्ति ही किया करते हैं। इस दुस्तर संसार में समस्त प्राणियों पर मैत्री भाव रखने वाले सबको सुखी देखने में आनन्द मानते हैं, स्वयं तो किसी भी जीव को किसी भी प्रकार का दुःख वे नहीं पहुँचाते। तीर्थंकर भगवान् के तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति का बन्ध ऐसी भावना ही से तो हुवा करता है; किसी भव में तपश्चरण करते २ भावना होती है कि संसार के प्राणी पापकर्म से बचें, पाप दुख का मूल है, और जिनेन्द्र प्रभु के शासन में तल्लीन होकर अपनी आत्मा का कल्याण करें, भव जंजाल से छूटें, अनादिकाल से चले आये दुःखों से छूटें। ऐसे प्राणी ही उत्कृष्ट वृत्ति होने पर वह सार्वभौम के देवेन्द्रों द्वारा नमस्कार किये जाने योग्य महान् तीर्थंकर पदको प्राप्त होते हैं। मैत्री भावना का भावनहारा स्वार्थी नहीं होता, विशाल हृदय होता है। उसके चित्त में मैत्री भावना भाते हुवे, जीवों के प्रति, जाति भेद, अमीर ग़रीब का भेद, संप्रदाय भेद, सेव्य सेवक भेद निंदक प्रशंसक का भेद, स्थान स्थल तथा भूमिका भेद इत्यादि

भेदभाव नहीं होता, उसकी तो प्रबल इच्छा होती है।

सुखी रहें सब जीव जगत के,
कोई कभी नहिं घबरावे।
पाप बैर अभिमान छांड़,
सब नित्य नये मंगल गावें॥
घर घर रहे धर्म की चर्चा,
दुष्कृत दुष्कर होजावें।
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना,
मनुज जन्म फल सब पावें॥
ईत भीत व्यापे नहिं जग में,
वृष्टि समय पर हुवा करे।
धर्म निष्ठ होकर राजा भी,
न्याय प्रजा का किया करे॥
रोगमरी दुर्भिक्ष न फैले,
प्रजा शान्ति से जिया करे।
परम अहिंसा धर्म जगत में,
फैल सर्व हित किया करे॥

मैत्री भावना के भावनहारके भाव यही बने रहते हैं कि सर्व संसार का कल्याण हो, सर्व प्राणी दूसरों के हित करने में तत्पर हों, जगत के समस्त जीवों के सर्व दोष नष्ट होवें, सर्व स्थान के सर्व प्राणी सुखी हों। मैत्री भावना जैन सिद्धान्तानुसार केवल स्वधर्मानुयाइयों तक ही सीमित नहीं है, वह तो सम्पूर्ण संसार के सब ही प्राणियों की ओर एकसी होती है, उसमें वर्ण जाति तथा धर्म का भेदभाव नहीं होता; केवल इतना ही नहीं उसका रक्षणशील हाथ तो सूक्ष्म से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव से लेकर ऊँचे से ऊँचे पंचेन्द्रिय सैनी तक समस्त ही प्राणियों के

लिये फैलता है। मैत्री भावना एक ऐसी भावना है जिसके द्वारा बैर विरोध पर विजय प्राप्त की जाती है। यह मैत्री भावना समता का एक अंग है।

जहाँ मैत्री भावना होती है, वहाँ ही क्षमा होती है वहाँ ही विनय होती है। मैत्री भावना का भावन हारा दूसरों को सताता नहीं, दूसरों को ठगने के लिए झूठ बोलता नहीं, चोरी करता नहीं, पराइ स्त्रियों को खोटी दृष्टि से देखता नहीं, तकता नहीं। अन्याय और अनीति से दूसरों के माल, असबाब, जेवर, रुपया, जायदाद हड़प नहीं करता है। सन्तोषमय जीवन व्यतीत करता है। प्रत्येक प्राणीमात्र का उपकार करने को सदैव तत्पर रहता है। कभी अशांत नहीं होता। दूसरों द्वारा अपमानित किए जाने पर भी विचारता है कि यह उनका अपराध नहीं है, यह तो उनका अज्ञान भाव है। कषाय के वशीभूत होकर ही वह ऐसा कर रहा है। मेरा कर्त्तव्य तो इस समय क्षोभित न होकर उसकी भूल सुझाना और उसे सन्मार्ग पर लगाना है, जिससे कल्याण हो। दया, क्षमा, शील, दान, त्याग इत्यादि गुण इस भावना के भाने वाले की आत्मा में विकसित होते हैं। आत्मबल बढ़ता चला जाता है। अधिक अधिक निर्भीक होता चला जाता है। परम्परा से वह प्राणी स्वयं परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है। ऐसा जान निरंतर मैत्री भावना का भावन करना चाहिए।

प्रमोद भावना—प्रमोद नाम हर्ष का, आनन्द का है। अपने से अधिक गुणवानों को देख करके अपने परिणामों में ऐसा हर्ष होना जैसा कि एक जन्म दारिद्री को परम निधि के प्राप्त करने पर होता है। गुणवानों को देखने मात्र से ही मारे हर्ष के रोमाञ्च होना, प्रसन्नवदन होना, हृदय में आल्हाद भाव का होना, स्तुति,

भाषण, नाम कीर्त्तन आदि द्वारा उन गुणवानों के प्रति अपनी अपनी अन्तर्गत भक्ति भाव प्रगट करना प्रमोद भावना है।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र; सम्यक् तप इनके धारण करने वालों में प्रमोद भावना करना, अर्थात् जिनके क्रोध, मान, माया. लोभ, राग द्वेषादि महान् दोषों का अभाव हो गया है और जो वस्तु स्वरूप को यथार्थ जानते हैं, ऐसे महान् पुरुषों के गुणों का बड़ी भक्ति और विनय के साथ मान करना, आदर सत्कार करना और ऐसा कहना कि धन्य है इनको कि जो प्राणीमात्र की निःस्वार्थ सेवा कर रहे हैं। अनेक भव्य जीवों को अपने उपदेश तथा शिक्षण द्वारा सद्मार्ग पर लगाकर उनका कल्याण कर रहे हैं। सन्तोष, सत्य, अनुकंपा, नम्रता, विनय दानादि अनेक गुणों से अलंकृत महान् पुरुषों के चरित्रों को सुनकर या पढ़कर उनके गुणों के लिए बहुमान करना प्रमोद भावना है। अपनी आत्मा में सद्गुणों को विकसित करने का उपाय यही है कि अपने से अधिक गुणवानों के प्रति प्रमोद भावना रखी जावे, प्रमोद भावना के भावनहार के ही सोलह कारण भावना होती हैं, उसी के चित्त में पंच परमेष्ठी की भक्ति होती है, उसी के सच्ची विनय, भक्ति, प्रभावना और वात्सल्य गुण पाये जाते हैं।

प्रमोद भावना से गुणानुराग बढ़ता है। यदि वह गुण अपनी आत्मा में न हों तो उनको प्राप्त करने की इच्छा होती है। यदि वे गुण थोड़ी मात्रा में अपनी आत्मा में हों भी तो उन गुणों की वृद्धि और भी होती है। दूसरों की बढ़ती को देख ईर्षाभाव नहीं करना बल्कि यह भावना करनी कि जिस प्रकार इन्होंने वृद्धि की है मैं भी उस ही प्रकार अपने पुरुषार्थ का साधन कर उन्नति करूँ। इस प्रकार इस प्रमोद भावना के भाने

से इस भव में और परभव में बहुत लाभ होता है। मनुष्य के गुणों की वृद्धि होकर उसका जीवन आनन्दमय हो जाता है। प्रमोद भावना के भाने में कोई पैसा खर्च करना पड़ता नहीं किसी प्रकार का वाह्य प्रयास नहीं करना पड़ता, यह तो अपने अन्तरंग भावों की ही बात है। दृष्टिकोण को बदलने की आवश्यकता है। प्रमोद भावना भी समता का एक अंग है। समता रस के रसिकों को इस प्रमोद भावना का भावन करना ही योग्य है।

करुणा भावना—असाता वेदनी कर्मोदय जनित रोग दरिद्रादि से पीड़ित संक्लेशित प्राणियों के तथा विकल इन्द्रिय अन्धे, लूले, लंगड़े, बहरे, अपाहज तथा विदेशी तथा अति वृद्ध बाल तथा असमर्थ अबला विधवाओं इत्यादि दीन हीन दुःखी जीवों के दुख तथा संक्लेश को दूर करने कराने की बुद्धि रखना, अभिप्राय रखना, कारुण्य भावना है। संसारी जीवों की विचित्र दशा होती है, अनादिकाल से इस चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करते २ इनको एक क्षण मात्र के लिये भी चैन नहीं है। प्रत्येकगति में इस जीवको अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। पशु और मनुष्यगति के दुःख तो हमें साक्षात् दिखाई ही पड़ते हैं। मनुष्यों में कोई इष्टवियोग से दुःखी तो कोई अनिष्ट संयोग से दुःखी, कोई दीन है तो कोई दरिद्री, किसी के शारीरिक रोग है तो कोई मानसिक व्यथा से पीड़ित है, किसी को शत्रु से डर है तो कोई राज्य से भयभीत है, कोई सन्तान के दुःख से विकल रहता है इत्यादि दुःखों से पीड़ित संसारी जीव होते हैं तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान द्वारा अनेक पापकर्मों का बंधकर भविष्य में दुःख देने वाले कर्मों को उपार्जन करते रहते हैं। ऐसे

दीन दुःखी प्राणियों पर दया, करुणा प्रगट करना कारुण्य भावना है।

इसी कारुण्य भावना से प्रेरित हो कर ही तो साधु महात्मा तथा सज्जन परोपकारी पुरुष निःस्वार्थ भाव से संसारी जीवों को भव बन्धन से छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं। जब संसारके प्राणियों को दुःखी देख कर उनको दारुण दुःखों से छुड़ाने की तीव्र भावना उत्पन्न होती है तब ही तो बहुधा तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध भगवान् के होता है।

कारुण्य भावना के भावनहार की दृष्टि विशाल होती है, वह सब प्राणियों को अपने समान समझता है। दूसरों को दुःखी देख उसके हृदय से करुणा स्रोत बहने लगता है। दुःखी को देख उसके चित्त में बार बार यही विचार आता रहता है कि किसी प्रकार जल्दी से जल्दी उसके दुःखकी निवृत्ति कर दूं। वास्तव में करुणा एक विचित्र आशीर्वाद है यह लेनेवाले तथा देनेवाले दोनों को आनन्द पहुँचाती है और दोनों का कल्याण करती है। यह करुणा भावना तो है ही जिस से प्रेरित हो कर परोपकारी जीव अनेकों कष्ट सहन करने पर भी जनता के हित के लिये लालायित रहते हैं, अपना सर्वस्व लुटा डालते हैं, जान तक न्योछावर कर डालने में दरेग़ नहीं करते। दुखियाओं के दुःख मिटाने में जो आनन्द उनको आता है उस में मग्न हो कर वे अपने आप को भूल जाते हैं। यह करुणा भावना पुण्य विशेष के बन्ध का मुख्य कारण है। भव्य पुरुषों को उचित है कि अपनी स्थिति तथा अपनी शक्ति के अनुसार इस भावना को भावें। परोपकार को अपना कर्तव्य समझें और सदैव दीन दुःखी प्राणियों के कष्ट मिटाने के लिये तत्पर रहें।

माध्यस्थ भावना——जो पुरुष धर्म रहित, तीव्र कषायी, हठ ग्राही, उपदेश देने के अयोग्य, विपरीत ज्ञानी, धर्म द्रोही, दुष्ट अभिप्रायी तथा निर्दयी हों उन के प्रति न राग करना, न द्वेष, माध्यस्थ भावना कहलाती है।

संसार में देखने में आता है कि जीवों की प्रकृति एक सा नहीं होती हैं, सब की प्रकृति भिन्न भिन्न हैं, कोई तो हिंसा कर के आनन्द मानते हैं, कोई झूठ बोल कर दूसरों को ठगने में आनन्द मानते हैं, कोई दूसरों का धन हरण करके, दूसरों का माल हड़प करके आनन्द मानते हैं। कोई २ परस्त्री में आसक्त हो कर धन, शरीर और कीर्ति का नाश कर डालते हैं। कोई अन्याय और अनीति से धन संचय करने में आनन्द मनाते हैं, माल जोड़ २ कर मर जाते हैं परन्तु अपने जीवन में एक पैसा भी परोपकार के निमित्त खर्च करना नहीं जानते। कोई क्रोध के आवेश में फँसे रहते है, कोई मान के घोड़े पर सवार रहते हैं। कोई दूसरों को धोका देने में ठगने में आनन्द मानते हैं, कोई करोड़ों करोड़ों रुपये की सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये हाय हाय करते फिरते हैं, कोई दूसरों की निन्दा करने में आनन्द मानते हैं। कितने ही प्राणी देव, गुरु, धर्म की निन्दा करने में ही अपने जीवन की सफलता मानते हैं। कितने ही मिथ्यात्वी जीव वस्तु स्वरूप को न जान झूठा उपदेश देना ही अपना कर्तव्य समझ बैठते हैं। कोई कोई प्राणी ऐसे विपरीत बुद्धिवाले पुरुषों को देख कर उनसे रोष करते हैं उनको बुरा भला कहते हैं, उनसे झगड़ते हैं। और समझते हैं कि वे अन्याय कर रहे हैं इस लिये उनका ही हित विचार कर उनको सुधारने के लिये उन के प्रति कठोरता का व्यवहार करना उचित है। यहाँ आचार्य वर बताते

हैं कि ऐसे मनुष्यों पर क्रोध करने से या उनके साथ कठोरता का वर्ताव करने से तुम्हें क्या लाभ ? संसार के सब ही प्राणी अपने अपने कर्मानुसार कार्य किया करते हैं। तुम्हारा उन पर क्रोध करना व्यर्थ है। तुम्हारे क्रोध करने मात्र से क्या वह अपने विचारों में आसानी से परिवर्तन कर लेवेंगे ? वह तो कर्म के प्रेरे ऐसा कर रहे हैं। ऐसी दशा में तुम्हारा कर्तव्य क्या है ? यह विचारने योग्य बात है। यदि आप के हृदय में उनके सुधार की लग्न है तो उनको अपने उपदेश द्वारा अपने आत्मबल के प्रभाव द्वारा, प्रेम पूर्वक समझा बुझा कर उन के हितकारी सत्यमार्ग पर उनको लगाओ। यदि तुम्हारे उपदेश देने या समझाने बुझाने पर भी वे सत्यमार्ग को ग्रहण नहीं करते तो तुम्हारे लिये उनके प्रति माध्यस्थ भाव रखना ही उचित है। तुम्हारा अपना कर्तव्य तो उनको समझा बुझा कर सत्पथ पर आरूढ़ करने का है, यदि वे न मानें तो तुम रोष काहे को करो। तुम तो समता धारण करो, तुम क्या जगत के ठेकेदार हो। तुम तो ऐसे समय में यही भावना करो कि उनको सत् उपदेश की प्राप्ति हो, उनका सुधार हो। यदि वे नहीं सुनते और विपरीत मार्ग पर ही डटे रहते हैं तो ऐसा न समझो कि तुम्हारा प्रयास निष्फल गया, तुमने तो अपने कर्तव्य का पालन किया उसका भव भ्रमण अभी बाकी है, उसका कर्मोदय ही ऐसा है जिससे सुझाने पर भी उसे सत्यमार्ग दिखाई नहीं पड़ता। सूर्य का प्रकाश होने पर उल्लू को दिखाई नहीं पड़ता, इस में सूर्य का क्या अपराध है, सूर्य उल्लू पर रोस नहीं करता, प्रकाश करना छोड़ नहीं देता, अपने पथ पर वैसे ही आरूढ़ रहता है, उससे विचलित नहीं होता। ऐसा विचार करनेसे अपनेसे विपरीत प्रवृत्ति वाले तथा भिन्न भिन्न विचार वाले प्राणियों पर तुम्हें

क्रोध नहीं आवेगा और तुम्हारी शान्ति भङ्ग नहीं होगी, यही माध्यस्थ भावना है। यह भावना दूसरों के सुधार के लिये पुरुषार्थ करने से मना नहीं करती, परन्तु पुरुषार्थ करने पर भी जब परिणाम रूप में निष्फलता प्राप्त हो तो उस समय बार २ विरोधी पुरुष के प्रति जो क्रोध भाव उत्पन्न होता है, उस पर विजय प्राप्त करना इस भावना का विषय है।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ ये चारों धर्मध्यान की भावनायें हैं, ये चारों भावनायें ही Universal brotherhood (विश्व बन्धुत्व) स्थापित करनेमें समर्थ होती हैं। इन भावनाओं के भाने से जीव आर्त्त-रौद्र ध्यान से मुक्त हो कर धर्म ध्यान में प्रवेश करता है। इन भावनाओं के भानेसे मन स्थिर हो जाता है, मन में समता आती है। इन भावनाओं के भाने से अनुपमेय तथा अकथनीय आनन्द आता है। ऐसा जान भव्य जीवों को सदैव इनको भाना चाहिये। कहा है :—

"मैत्री भाव जगत में मेरा,
सब जीवों पर नित्य रहे।
दीन दुखी जीवों पर मेरे,
उर से करुणा स्रोत बहे॥
दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतों पर,
क्षोभ नहीं मुझ को आवे।
साम्य भाव उन पर मैं रक्खूं,
ऐसी परणति हो जावे॥
गुणी जनों को देख हृदय में,
मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उन की सेवा,

करके यह मन सुख पावे ॥
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं,
द्रोह न मेरे मन आवे ।
गुण ग्रहण का भाव रहे नित,
दृष्टि न दोषों पर जावे ॥"

षोडश कारण भावना

यह सोलह कारण भावनायें भी श्रावकों द्वारा भावने योग्य हैं। इन भावनाओं के भावने का फल तीर्थंकर पद की प्राप्ति है इस तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध अव्रती सम्यक् दृष्टि तथा देशव्रती श्रावक के होता है, प्रमत्त संयत तथा अप्रमत्त संयत के होता है। यह तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है, इस से बढ़ कर पुण्य प्रकृति तीन लोक में और नहीं होती। तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण यह ही षोडश कारण भावनायें हैं, यह भावनायें समस्त पाप का क्षय करने वाली, परिणामों के मल को विध्वंस करने वाली, भाव पूर्वक सुनने तथा पठन-पाठन द्वारा संसार बन्ध को छेदने वाली हैं, इसीलिये भावने योग्य हैं।

अब आगे इन भावनाओं का जुदा जुदा वर्णन करते हैं:—

दर्शन विशुद्धि—जो प्राणी मनुष्य जन्म को प्राप्त कर इस को सफल करना चाहते हैं उनको सम्यक् दर्शन की विशुद्धता अवश्य करनी चाहिये। सम्यक् दर्शन समस्त धर्म का मूल है, सम्यक्त्व के बिना श्रावक धर्म भी नहीं होता। सम्यक् दर्शन के बिना ही यह जीव अनादि काल से इस चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते हुए आ रहा है और नाना प्रकार के कष्ट भोग

रहा है, जो इस बात के इच्छुक हैं कि संसार भ्रमण से छूटें और अपने शुद्धात्मस्वरूप अनन्त, अविनाशी सुख को प्राप्त हों तो उनको चाहिये कि अन्य समस्त पर द्रव्यों की अभिलाषा छोड़ सम्यक् दर्शन को उज्वल बनावें।

यह दर्शन विशुद्धि मोक्ष सुख का कारण है, दुर्गति का निराकरण करने वाली है, शेष विनय-संपन्नतादिक पंद्रह भावनाओं का मूल कारण है, यदि यह दर्शन विशुद्धता न होवे तो शेष पन्द्रह भी न होवें। यह भावना भव्य जीवों के लिये परमशरण है।

भव्य जीव को सदैव ही ऐसा यत्न करते रहना चाहिये जिस से कि स्व पर द्रव्य का भेद विज्ञान अधिकाधिक उज्वल होता रहे। अनादि काल से मिथ्यात्व नाम कर्मोदय के कारण इस जीव को निज स्वरूप की तथा पर की पहिचान कभी हुई नहीं। पर्याय बुद्धि हुवा अपने सत्यार्थ रूप से सर्वथा अनभिज्ञ हो चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है। देव कुदेव, धर्म कुधर्म, गुरु कुगुरु में इसे तमीज नहीं। पुण्य पाप का, इस लोक परलोक का, त्यागने योग्य ग्रहण करने योग्य का, भक्ष्याभक्ष्य का, सत्संग कुसंग का, शास्त्र कुशास्त्र का विचार इसे नहीं। कर्मोदय के रस में एक रूप हुवा अपने हिताहित को पहिचानता नहीं। इसी कारण परद्रव्यों में लालसा रूप हुवा संक्लेशित हो रहा है। कभी अकस्मात् काललब्धि के निमित्त से उत्तम कुल में जन्म ले जिनेन्द्र के धर्म को प्राप्त होता है तो वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित अनेकांत रूप परमागम के प्रसाद से प्रमाण नय निक्षेप द्वारा निर्णय कर, परीक्षा प्रधानी हो, निर्ग्रन्थ वीतरागी सम्यक्ज्ञानी गुरु की असीम कृपा होने पर ऐसा निश्चय कर पाता है कि मैं समस्त पर द्रव्यों से

सर्वथा भिन्न एक अखंड ज्ञायक स्वरूप, अविनाशी, सर्वांग चेतना लक्षण मंडित शुद्ध आत्मा हूँ, शरीर जाति कुल रूप नाम इत्यादि का मेरे से कोई सम्बन्ध नहीं। मैं उनसे सर्वथा भिन्न हूँ; राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभादिक कर्मोदय जनित विकार हैं मेरी आत्मा का निज स्वभाव नहीं हैं। वह तो अत्यन्त उज्वल शुद्ध स्वभाव है, जैसे स्फटिक मणि तो स्वयम् सफेद वर्ण वाला उज्वल है, परन्तु हरे लाल पीले काले डांक (Setting) के प्रसंग के कारण हरे लाल पीले काले रंग रूप दिखाई पड़ता है, वास्तव में वह इन रूप है नहीं। ठीक इसी प्रकार मैं आत्मा शुद्ध चिदानंद रूप स्वच्छ ज्ञायक भावस्वरूप हूँ, निर्विकार टंकोत्कीर्ण हूँ, मोह कर्म जनित रागादिक विकार भाव इसमें झलक रहे हैं वे मेरे रूप नहीं हैं, मैं तो उनसे सर्वथा भिन्न हूँ। ऐसे तो अपने निज स्वरूप का निश्चय होता है, और ऐसा निश्चय होना ही निश्चय सम्यक् दर्शन है।

आगे बताते हैं कि सच्चे आप्त, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु में श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है। सच्चा आप्त जो देव सर्वज्ञ, वीतराग तथा परम हितोपदेशी है; जो क्षुधा १, तृषा २, जन्म ३, जरा ४, मरण ५, रोग ६, शोक ७, भय ८, विस्मय ९, (आश्चर्य), राग १०, द्वेष ११, निद्रा १२, मद १३, मोह १४, चिन्ता १५, स्वेद (पसीना), १६, अरति १७, खेद १८, इन अठारह दोषों से सर्वथा रहित है, जिसकी आत्मा में, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख इत्यादिक अनन्त आत्मीक गुण विकासमान हो गये वही सत्यार्थ आप्त (देव) है, वही हमारे द्वारा वन्दन, स्तवन तथा आराधन किये जाने योग्य है। जिस देव में यह गुण न पाये जावें अर्थात् जो कामी, क्रोधी, लोभी मोही, स्त्री-लंपटी, शस्त्रधारी, अल्प-इन्द्रिय ज्ञान के धारक,

सर्वज्ञता रहित, व्यक्ति हैं वह आराधन योग्य नहीं हैं, उन में आप्त पने का कोई लक्षण ही नहीं है।

सच्चा शास्त्र—सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी आप्त द्वारा प्रतिपादित, पूर्वापर विरोध रहित, जिसमें प्रत्यक्ष अनुमानादिक से कोई बाधा न आती हो, जो प्राणी मात्र को हिंसा रहित धर्म का उपदेश देने वाला हो, और जो आत्मा के उद्धार के निमित्त अनेकान्त रूप वस्तु के यथार्थ स्वरूप को साक्षात् प्रगट करने में समर्थ है वही सच्चा आगम है, सच्चा शास्त्र है, वही श्रद्धानी जीवों द्वारा पठन पाठन श्रवण करने तथा श्रद्धान करने, और वन्दने योग्य है। जो शास्त्र रागो द्वेषी स्वार्थी विषय लम्पटी पुरुषों द्वारा प्रतिपादित किये गये हों, जिनमें विषयकषाय का पोषण करने वाला उपदेश पायाजावे, जिसमें हिंसा का उपदेश हो, जो प्रत्यक्ष, अनुमानादि से वाधित हो, एकान्त पक्ष को लिये हुवे होव एक कल्याणार्थी जीवन के द्वारा श्रवण पढ़ने योग्य नहीं।

सच्चा गुरु—जिनके विषयों की वाञ्छा का, कषाय का तथा आरंभ परिग्रह का अत्यन्त अभाव होगया है जो केवल अपने आत्मा को उज्वल बनाने में उद्यमी हैं, ध्यान स्वाध्याय में ही लीन रहते हैं, स्वाधीन हैं, कर्मोदय जनित दुःख सुख में सदा साम्य भाव के धारण हारे हैं। जीवन मरण, लाभ अलाभ, स्तवन निंदा में राग-द्वेष रहित हैं। उपसर्ग परीसह सहन करने में मेरु शिखर की तरह अकम्प रहने वाले हैं, परम धैर्य के धारक साहसी निर्भय परम निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु ही वन्दन स्तवन करने योग्य है। जो आरंभी हैं, कषायी और दम्भी हैं तथा विषय लम्पटी हैं वेकुगुरु हैं वे सत्य पथ के प्रदर्शक हो नहीं सकते वे, कदाचित् स्तवन वंदन किये जाने योग्य नहीं हैं।

सच्चा धर्म—जीव दया ही धर्म है, हिंसा में कदाचित धर्म नहीं। सूर्य का उदय पश्चिम में हो जावे, अग्नि शीतल हो जावे, सर्प के मुख में अमृत हो जावे, सुमेरु पर्वत चलायमान हो जावे इत्यादि असंभव बातें चाहे संभव हो जावें, परन्तु हिंसा में धर्म कदापि हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार एक सम्यक् दृष्टि के ऐसा दृढ़ श्रद्धान होता है कि अपने आत्मा के अनुभव में, सर्वज्ञ वीतराग आप्त के स्वरूप में तथा निर्ग्रन्थ विषय कषाय रहित गुरु में, अनेकान्त स्वरूप आगम में तथा दयारूप धर्म में उसके शंका का सर्वथा अभाव होता है। सम्यक् दृष्टि वीर योद्धा होता है, वह समस्त प्रकार के भय से रहित होकर संसार की समस्त कठिनाइयों को चीरता हुवा अपने निश्चित मार्ग पर आरूढ रहता है, उससे कभी विचलित नहीं होता, यही निशंःकित अंग है।

सम्यक दृष्टि धर्म का सेवन करके उसके फलरूप विषयों की इच्छा नहीं करता, सम्यक् दृष्टि को तो इन्द्र अहमिन्द्र लोक के विषय भी महान वेदनारूप विनाशीक पाप का बीज ही दिखाई पड़ते हैं और धर्म का फल अनन्त अविनाशी स्वाधीन सुखरूप मोक्ष पद दिखाई देता है। जिस प्रकार एक बहु मूल्य हीरे को छोड़ कर एक मामूली कांच के टुकड़े को किसी भी मूल्य में कोई बुद्धिवान जौहरी लेना नहीं करता. उसी प्रकार जिसको आत्मीक, अविनाशी बाधारहित सुख दृष्टि गोचर हो रहा है, वह झूठे अनेक आपदाओं के घर विषय भोगों के सुख की कैसे इच्छा कर सकता है। इस प्रकार एक सम्यक् दृष्टि वांछा रहित होता है। अव्रती सम्यकदृष्टि चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से वर्तमान काल में आजीविकादिक में तथा स्थानादि परिग्रह सम्बन्धी जो आपत्तियाँ आवें, उनसे बचने की

तथा उनके अभाव की वांछा किया करता है। अन्तरंग में तो वह इस भाव को भी दुःख रूप ही जानता है परन्तु वर्तमान काल में अपने को उस आपत्ति के सहने में असमर्थ जानकर उसके अभाव की वांछा किया करता है, जैसे कोई रोगी मनुष्य कड़वी औषधि को पीना तो नहीं चाहता और न ही उसके पीने को अच्छा समझता, परन्तु वेदना का सताया हुवा उस रोग से छुटकारा पाने के लिये उसे ग्रहण करता है, अन्तरंग में तो उसे उस औषधि से कोई अनुराग नहीं है, ऐसे अव्रति सम्यक् दृष्टि निवांछक होते हुवे भी वर्तमानकाल के दुःख को मिटाने के लिये योग्य न्याय के विषयों की वांछा किया करता है। व्रती सम्यक् दृष्टि तथा साधु जिनके प्रत्याख्यानावरण तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होता है, वे तो अपने शरीर के टुकड़े २ किये जाने पर भी विषय भोगों की वांछा नहीं करते। इसलिये एक सम्यक्दृष्टि के निःकांक्षित गुण होता है।

सम्यक्दृष्टि अशुभ कर्मोदय के निमित्त से प्राप्त हुई अशुभ सामग्री में ग्लानि नहीं करता, अपने भावों को संक्लेशित नहीं करता, विचारता है कि जैसा कर्म बंध किया था उसी के उदयानुसार तो यह भोजन पान, स्त्री पुत्र, सम्पदा आपदा, दारिद्र आदि मुझे प्राप्त हुवे हैं, इसमें दोष किसको देवें। पाप की सामग्री को देख उससे भयभीत नहीं होता, कलुषित नहीं होता। मलमूत्रादिक को देख, भयंकर वन, क्षेत्र, स्मशान भूमि को देख, भयरूप दुखदायी काल को देख, दुष्टपना, कड़वापना इत्यादि वस्तु के स्वभाव को देख अपने परिणामों में संक्लेशित नहीं होता। यह निर्विचिकित्सित अङ्ग सम्यक्दृष्टि के ही होता है। वह दीन, दुःखी, लंगड़े, लूले, निर्धन कमजोरों को देख उनसे घृणा नहीं करता, वह तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला

है। उन पर दयाभाव रख उनके साथ प्रेम पूर्वक व्यवहार करता है उनके क्लेश को मेटने का भरसक प्रयत्न करता है।

खोटे दूषित शास्त्रों के तथा व्यन्तरादिक देवों द्वारा की गई विक्रियासे तथा यन्त्र मन्त्र औषधादि के प्रभाव से अनेक वस्तुओं के विपरीत स्वभाव को देख सत्यार्थ धर्म से डिगता नहीं, यही उसका अमूढ़दृष्टि गुण है। सम्यक् दृष्टि दूसरे जीवों के, अज्ञान के निमित्त से तथा अशक्तता के कारण लगे हुवे दोषों को देखकर उनको ढकता है। उनकी मुश्तहिरी नहीं करता। वह विचारता है कि संसारी जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा मोहनीय कर्म के वशीभूत हुवे अपने निज स्वभाव को भूल रहे हैं, कर्मों के आधीन हुवे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पापकर्मों में प्रवृत्ति करते हैं। जो पापों से दूर रहते हैं वे धन्य हैं। यदि कोई धर्मात्मा पुरुष किसी समय में पापकर्मोदय से अपने मार्ग से च्युत होजाता है या होता नजर आता है तो उसको देख ऐसा विचार करता है कि यदि इसका यह दोष प्रगट होगया तो और धर्मात्माओं की तथा निजधर्म की बड़ी हंसी होगी, निन्दा होगी, जिन धर्मियों का कोई विश्वास नहीं करेगा, ऐसा जान उनके दोषों को ढकता है, साथ में यह भी भावना उसके बनी रहती है, कि उसका यह दोष दूर करा उसको श्रेय मार्ग पर लगा दे। वह अपने गुणों की शेखी भी नहीं मारता, वह यह पसंद नहीं करता कि दूसरे उसके गुणों की उसके सामने प्रशंसा करें, या खुशामद से उसको खुश करने की नियत से उसकी पीठ पीछे प्रशंसा करें, यह उपगूहन अंग सम्यक् दृष्टि के होता है, यदि किसी समय रोग की वेदना से या दारिद्रय से, या किसी घोर उपसर्ग परीषह के आजाने पर या असहायता का भाव चित्त में आजाने पर तथा अन्न, जल आदि न मिलने पर या इत्यादि

अन्य अनेक कारणों के आजाने पर किसी धर्मात्मा पुरुष के परिणाम धर्म से डिगते हैं, शिथिल होते हैं तो उसको धर्मोपदेश देकर धर्म मार्ग पर स्थिर करना सम्यक्दृष्टि का कर्तव्य है। वह उसको समझाता है "हे ज्ञानी धर्मात्मा, इस समय अपने कर्तव्य को क्यों भूल रहे हो, असाता वेदनीय कर्म का उदय आरहा है, इसके फल को कायर होकर दीनता पूर्वक रुदन विलाप करके भोगोगे तो भोगोगे धैर्य के साथ समताभाव पूर्वक भोगोगे तो भोगोगे, तो भोगना तो तुम्हें ही पड़ेगा, कर्म बख़शने वाला नहीं है, वह जड़ अचेतन है उसके दया कहाँ ? कोई भी देव दानव, यन्त्र तन्त्र मन्त्र औषधि आदि तथा स्त्री पुत्र मित्र बांधव सेवक उदय में आये हुवे कर्म को हरने में समर्थ नहीं, सब ही हाथ बांधे विवश खड़े रहेंगे, यदि रुदन विलाप करके भोगोगे तो संक्लेशित परिणामों के कारण, आगे के लिये नवीन कर्मबन्ध हो जावेगा, परलोक बिगड़ेगा, वेदना घटेगी नहीं, यदि शान्ति पूर्वक सहन करोगे तो कर्म की निर्जरा होगी, आगामी बन्ध नहीं होगा। इसलिये अब इस आपत्तिकाल में साहस धारण कर परम धर्म का शरण ग्रहण करो, यही तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है। इत्यादि धर्मोपदेश देकर धर्म दृढ़ करना और अनित्य अशरणादिक वैराग्य भावनाओं का ग्रहण कराना एक सम्यक् दृष्टि का कर्तव्य है। यदि शरीर में रोग होता है तो उसकी दवाई औषधि करना कराना, किसी द्वारा टहल सेवा कराना या स्वयं अपने हाथ से करना, आहार, जल, औषधि आदि का प्रबन्ध कराना, उसके मलमूत्रादि से घृणा न कर उसके वस्त्र बिछौने आदि को धोना, यदि जख्मी हो तो उसके जख्मों को धोकर उनकी मरहम पट्टी करना। यदि कोई दारिद्र से पीड़ित हो तो उसके भोजन पान का प्रबन्ध करना करावना, उसको धन्धेसिर लगा देना या

लगवा देना। उपसर्ग आने पर उस उपसर्ग को दूर करके या कराके धर्म से चिगते हुवे को धर्म में स्थित करना सम्यक्दृष्टि का कर्तव्य है। यदि किसी समय सम्यक् दृष्टि स्वयं कषाय के वेग के कारण धर्म च्युत होने लगे तो अपने आपको सम्भालना और पतन से बचाना यह सब सम्यक् दर्शन का स्थितिकरण नाम अंग है। सम्यक् दृष्टि इसका पालन सदैव उदार चित्त होकर किया करता है। इस प्रकार की सेवा का अवसर आपड़ने पर वह पीछे हटता नहीं, एक वीर योद्धा की भांति कार्य क्षेत्र को छोड़कर भागता नहीं। सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा गुणवान् पुरुषों के साथ गऊ बच्चे सरीखा प्रेम करता है। धर्मात्मा पुरुषों को देख उसके हृदय में उनके प्रति प्रेम का स्रोत उमड़ आता है। सम्यक्दृष्टि के प्रेम का पथ निराला होता है। संसारी जीव मोही होते हैं उनकी प्रीति का झुकाव तो स्वार्थ साधन की ओर होता है, वे अपने भाई बन्धु स्त्री पुत्रादि से तथा इन्द्रियों के विषय भोगों से तथा धन उपार्जन करने से ही प्रीति किया करते हैं, सम्यक्दृष्टि का प्रेम निराला है, उसके हृदय में विश्व प्रेम होता है, प्राणीमात्र को वह अपने समान समझता है। संसारी मोही जीवों सरीखे प्रेम को तो वह संसार परिभ्रमण का कारण जानता है, उसके अन्तरंग में वीतरागता का भाव होता है वह वीतरागता के उपासक धर्मात्माओं में रत्नत्रय के आराधक मुनि, अर्जिका, श्रावक श्राविकाओं तथा धर्म के आयतन (ठिकाने) में प्रीति करता है। उसका निःस्वार्थ प्रेम है, प्रेम में स्वार्थ को स्थान कहाँ ? यही सम्यक्दर्शन का वात्सल्य अंग है। सम्यक दर्शन सम्यक ज्ञान, सम्यक् चारित्र रत्नत्रय रूप मोक्ष का मार्ग है। अपने मन से, वचन से, काय से, धन से, दान देकर तथा व्रत तप, भक्ति द्वारा

इस जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का प्रभाव तथा माहात्म्य संसार में प्रगट करना कराना, मार्ग प्रभावना अंग है। सम्यकदृष्टि इसका पालन सदैव सहर्ष किया करता है।

इस प्रकार निःशंकित निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना, सम्यकदृष्टि के इन आठ अङ्गों को धारण करने से इन गुणों के प्रतिपक्षी शंका कांक्षा आदि दोषों का अभाव होता है और दर्शन विशुद्धता होती है।

सम्यकदृष्टि के छह अनायतन का त्याग होता है। आयतन कहते हैं स्थान को, कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनके सेवन करने वाले छहों धर्म के आयतन अर्थात् स्थान नहीं हैं इनमें धर्म नहीं पाया जाता इसी लिये इन छहों को छह अनायतन कहते हैं, मिथ्यात्वी देव, मिथ्यात्वी गुरु तथा विषय कषाय के पोषक एकान्त वादी मिथ्यात्वी देवों तथा गुरुओं द्वारा प्रतिपादित शास्त्र तथा इन तीनों अर्थात कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के सेवकों तथा उपासकों में सम्यक् धर्म नहीं पाया जाता, वे सम्यक् धर्म के आयतन (स्थान) नहीं हैं; ऐसे दृढ़ श्रद्धान का होना दर्शन विशुद्धि का मुख्य कारण है। सम्यक् दृष्टि के ऐसा श्रद्धान होता है वह उनकी सेवा भक्ति, सुश्रुषाभक्ति भाव के साथ धर्म बुद्धि पूर्वक नहीं करता।

सम्यकदृष्टि के लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता, और गुरु मूढ़ता नहीं होती। लोगों की देखादेखी योग्य अयोग्य, सत्य असत्य, हित अहित, आराध्य अनाराध्य के विचार रहित, अज्ञानी मिथ्या-दृष्टि लौकिक जनों जैसी प्रवृत्ति करना लोक मूढ़ता है। किसी फल की इच्छा से तथा अपने इच्छित वरकी पूर्त्ति होने की आशा से रागी द्वेषी कामी क्रोधी देवी देवताओं की देवत्व बुद्धि से आराधना करना देव मूढ़ता है। पाखंडी, हीनाचारी, परिग्रही.

विषयलंपटी कुगुरु को गुरु मान उनकी आराधना करना गुरु मूढ़ता है। सम्यकदृष्टि के परिणामों में इन तीनों मूढ़ताओं का प्रभाव लेश मात्र भी नहीं होता है। उसकी जितनी क्रियायें होती हैं वे सब विचार पूर्वक हुवा करती हैं।

सम्यक् दृष्टि के आठ प्रकार का मद (गरूर) नहीं होता, वह तो संसार के स्वरूप को यथार्थ जानने वाला है, वह मद काहे का करे और क्यों करे? वह कुल का मद नहीं करता, उसके पिता पितामह चाहे कितने भी उच्च क्यों न हों, वह इस बात का घमंड नहीं करता। वह विचारता है कि यह ऊंच नीच कुल सब कर्माधीन है आत्मा का इस से क्या सम्बन्ध है, उच्च कुल में जन्म हुवा तो मुझे निंद्य कार्य नहीं करना, पाप रूप प्रवृत्ति नहीं करनी, सप्त व्यसन का त्याग करना, अभक्ष्य का सेवन नहीं करना, अपने चारित्र को उज्वल रखना तथा अपने परिणामों को शुद्ध रखना यही मेरा कर्तव्य है। माता के पक्ष को जाति कहते हैं इसी प्रकार उसको जाति का मद भी नहीं होता. वह तो जाति तथा कुल दोनों को विनाशीक जानता है और कर्माधीन मानता है। वह भावना करता है कि यदि यह उच्च जाति मिली है तो मान क्यों करूं? मान कषाय तो नीच गति के बन्ध का कारण है, यदि अब मान किया तो भविष्य में उच्च गति कैसे प्राप्त होगी। यह जाति पाकर शील पावना क्षमा धारण करना स्वाध्याय में, परोपकार में, दान में, विनय में, प्रवृत्ति करना ही मेरा कर्तव्य है। जाति का मद करके संसार भ्रमण का पात्र क्यों बनूं। सम्यक् दृष्टि अपने रूप का, ज्ञान का, धन का, ऐश्वर्य का, तप का और प्रभुता का मद नहीं करता। संसारी जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के उदय से पर्याय बुद्धि हो रहा है, वह जाति कुल आदि आठ प्रकार का मद किया करता है, वह अज्ञान वश यह नहीं जानता कि यह सब कर्म के

आधीन पुद्गल के विकार हैं, विनाशीक हैं, क्षण भंगुर हैं। सम्यक् दृष्टि विचारता है कि ऐसे विनाशीक, क्षण भंगुर पदार्थों का गर्व करना संसार परिभ्रमण का कारण है।

इस प्रकार आठ शंकादिक, छह अनायतन, तीन मूढ़ता और आठ प्रकार के मद इन पच्चीस दोषों के त्याग से सम्यक् दर्शन की उज्वलता होती है, जो भव्य जीव निर्मल सम्यक् दृष्टि से शोभायमान होते हैं वे चाहे चारित्र मोहनीय कर्म के आधीन होने से व्रत-उपवास आदि थोड़े भी न कर सकें तो भी उन सम्यक् दृष्टियों की इन्द्रादि पूजा करते हैं। यद्यपि वे गृहस्थी हैं, परन्तु घर में रहते हुवे भी वह गृहस्थ में तल्लीन नहीं होते। जैसे जल के अन्दर रहने वाला कमल जल से भिन्न रहता है, उसी प्रकार वे रहते हैं, घर से उनकी प्रीति वेश्या की प्रीति की तरह अस्थिर होती है। जैसे कीचड़ में पड़ा हुवा भी सोना निर्मल ही रहता है वैसे ही वे गृहस्थी होते भी निर्मल होवे हैं। यह सम्यक् दर्शन धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है, इस लिये सबसे पहले जीव को इसे धारण करना चाहिये इसके बिना सब ही धर्म क्रियाएं अतिशय रूप पुण्यका बंध नहीं करतीं। मनुष्य जन्म और उत्तम कुल पाकर यदि फिर भी सम्यक् दर्शन धारण नहीं किया तो समझना चाहिये कि बड़ा भारी अवसर हाथ से गंवा दिया; क्यों कि ऐसा उत्तम नर भव बार बार मिलना कठिन है। सम्यक् दर्शन की महिमा विचित्र है, इसका धारक मर कर देव और मनुष्य ही होता है, स्त्री पर्याय धारण नहीं करता। पहले नर्क से नीचे नर्कों में जन्म नहीं लेता। इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि जिस तरह भी बन सके शास्त्र स्वाध्याय द्वारा अथवा सत्संगति द्वारा सात तत्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर सम्यक् दर्शन रूपी रत्न से अपने आपको पवित्र करें। और

नित्य प्रति दर्शन विशुद्धि भावना का ही निरन्तर चिन्तवन किया करें, इसकी स्तुति किया करें, इसकी उपासना किया करें, यह मोक्ष के सुख को देने वाली है। कहा है:—

"दर्श विशुद्धि धरे जो कोई। ताको आवागमन न होई॥

विनय सम्पन्नता:—विनय पांच प्रकार का होता है—

दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय; उपचार विनय।

दर्शन विनय—अपने श्रद्धान में शंकादिक दोष नहीं लगाना, सम्यक् दर्शन की विशुद्धता से ही अपना जन्म सफल मानना, सम्यक् दृष्टियों से गऊ वत्स समान प्रीति करना, स्व पर के भेद विज्ञान का अनुभव करना।

ज्ञान विनय—सम्यक् ज्ञान के आराधन करने में उद्यम करना, सम्यक् ज्ञान की कथनी के प्रति आदर भाव रखना, सम्यक् ज्ञान के प्रधान कारण अनेकान्त रूप जिन सूत्रों से पठन पाठन श्रवण आदि में उत्साह रूप होना, उनको स्तवन वन्दना पूर्वक बड़े आदर तथा भक्ति भाव के साथ पढ़ना, उनका प्रचार करना, उनको सुरक्षित रखना यह विनय है। ज्ञान के आराधक ज्ञानी जनों का आदर सत्कार करना, उनके पठन पाठन के निमित्त स्वाध्याय शाला स्थापित करना, जिनागम सम्बन्धी पुस्तकों को एकत्रित करके वहां रखना तथा ज्ञान प्राप्ति के अन्य यथायोग्य साधनों को जुटाना ज्ञान विनय है। कितने ही ग्रंथ भंडारों में ना मालूम पड़े हैं उनका कोई पता नहीं, उनको हवा तक नहीं लगाई जाती, वैसे ही पड़े २ गल सड़ रहे हैं, उनको देख भाल कर उनकी नवीन प्रतियें लिखाना, उनकी भिन्न २ भाषाओं में टीका कराना, उनको सुरक्षित रखना सब ज्ञान विनय है।

चारित्र विनय—अपनी शक्ति को न छिपाकर उसके अनुसार आत्मोन्नति के मार्ग पर लगने वाले चारित्र के धारण करने में हर्ष मानना। दिन दिन चारित्र की उज्वलता के निमित्त विषय कषाय की प्रवृत्ति को कम करते रहना, चारित्र पालन करने वाले गुणी जनों के प्रति अनुराग होना, उनका स्तवन आदर करना उनकी वैयावृत्य करना, उनके लिये धर्म पालन के साधनों को जुटाना यह सब चारित्र विनय है।

तप विनय—इच्छाओं का निरोध करके मिली हुई भोग की सामग्री में संतोषित रहना। ध्यान स्वाध्याय में उद्यमी होकर काम को जीतने के लिये और इन्द्रियों के विषय भोगों में से निज प्रवृत्ति को हटाने के लिये अनशनादिक तप धारण करने के लिये उद्यम करना तप विनय है।

उपचार विनय—जो सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप इन चारों आराधनाओं का उपदेश दे मोक्ष-मार्ग में भव्य जीवों की प्रवृत्ति कराने वाले हैं तथा जिनके स्मरण मात्र से परिणामों का विषय कषाय रूप मल दूर होकर विशुद्धता प्रकट हो जाती है, ऐसे पंच परमेष्टी के नाम की स्थापना का विनय, वन्दना, स्तवन करना उपचार विनय है।

उपचार विनय के और भी अनेक भेद हैं। जिसके आठ प्रकार के मद का अत्यन्त अभाव हो जाता है, कठोरता दूर होकर जिसके परिणामों में कोमलता आजाती है, उसी के हृदय में नम्रता का भाव होता है, उसके ऐसे भाव होते हैं कि यह धन यौवन जीवन क्षण भंगुर हैं, कर्माधीन हैं, किसी भी जीव को हमारे द्वारा कोई दुःख न पहुँचे। संसार में सब ही सम्बन्ध वियोग सहित हैं, यहां मुझे कितने दिन तक रहना है। समय २ में काल के सन्मुख अखंडरूप से जारहा हूँ। किसी वस्तु का भी सम्बन्ध मेरे साथ

स्थिर नहीं है। भगवान ने विनय धर्म को मनुष्य जन्म का सार बताया है। विनय संसार रूप वृक्ष को दग्ध करने के लिये अग्नि के समान है, यह विनय धर्म संसारी जीवों के चित्त को निर्मल तथा कोमल बनाने वाला है। विनय जिनशासन का मूल है। जिसके हृदय में विनय नहीं, वह शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। विनय रहित मनुष्य समस्त दोषों का पात्र होता है। विनय मिथ्या श्रद्धान को छेदने के लिये शूल के समान है। बिना विनय मान रूप अग्नि मनुष्य रूप चमड़े के वृक्ष को जला कर भस्म कर डालती है। मान कषाय के कारण यह प्राणी इस जन्म में भी घोर दुखों को सहता है और परलोक में, निन्द्य कुल में, नीच जाति में रूप बुद्धि हीन बलहीन हो जन्म लेता है। अभिमानी तिर्यंच गति में जन्म ले, पराधीन हुवा नाना प्रकार के अनेक दुःखों को भोगता है। अभिमानी का सब ही लोग विरोध करते हैं, उसका महा अपयश फैलता है, सब ही उसका पतन चाहने लगते हैं। लोक में जितनी अनीति है, जितना असद् व्यवहार है उस सब का कारण मान कषाय ही तो है, यह जीव मान कषाय के वशीभूत हो अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति के निमित्त तथा अपने झूठे अभिमान की पुष्टि के निमित्त पर धन हरण के अनेक उपाय निकालता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है इत्यादिक पाप रूप प्रवृत्ति करता हुवा ज़रा नहीं शरमाता।

देव की, शास्त्र की, गुरु की विनय मन से, वचन से, काय से करना भव्य जीवों का परम कर्तव्य है, यदि देव, शास्त्र, गुरु साक्षात् मौजूद न हों तो विनय पूर्वक उनका स्तवन करना, उनका चिन्तवन करना, उनका ध्यान करना परोक्ष विनय है। यदि वे साक्षात् मौजूद हैं तो उनकी भक्ति करना, आदर करना, अंजुलि जोड़ साष्टांग नमस्कार करना, उनके दर्शन स्तवन गुणानुवाद करके

अपने को कृतकृत्य मानना प्रत्यक्ष विनय है। आजकल तीर्थङ्कर भगवान् स्वयं तो साक्षात् हैं नहीं, जिन मन्दिरों में उनकी परम वीतराग शांत मुद्रा को लिये प्रतिबिम्ब मौजूद हैं। जिनेन्द्र की प्रतिबिम्ब के सामने खड़े होकर दर्शन करना, आनन्द पूर्वक ध्यान करके अपने को कृतकृत्य मानना, मन के द्वारा प्रत्यक्ष विनय है। बचनों द्वारा स्तवन करना प्रत्यक्ष वचन विनय है, अंजुली मस्तक पर चढ़ाना, बन्दना करना, साष्टांग नमस्कार करना काय द्वारा प्रत्यक्ष विनय है। देव की विनय करना समस्त अशुभ कर्मों का नाश करने वाला है।

परम निर्ग्रंथ वीतरागी गुरुओं को प्रत्यक्ष देखकर खड़ा होना आनंद सहित सन्मुख जाना, स्तवन वंदना करना, विनय सहित उनके पीछे २ चलना, गुरु के होते हुवे आप उपदेश नहीं देना, कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर आप न देना, यदि गुरु आज्ञा करे तो उनकी इच्छा तथा आज्ञानुसार उत्तर देना। गुरु की मौजूदगी में उच्च आसन ग्रहण नहीं करना, गुरु के उपदेश को अंजलि जोड़ बड़े आदर भाव के साथ ग्रहण करना, गुरु के गुणों में अनुराग करके उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करना, यदि गुरु कहीं दूर देशांतर में बिराजमान हों तो उनकी आज्ञा का पालन करते रहना, दूर ही से उनका ध्यान स्तवन नमस्कारादि विनय करना, यह सब गुरु जन का विनय है।

शास्त्र विनय— शास्त्रों को बड़े आदर भाव पूर्वक पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना, द्रव्य क्षेत्र काल भाव को देख व्याख्यान करना, यदि शास्त्रोक्त विधि पूर्वक अपने से व्रत संयमादि न बन सकें तो भगवान की आज्ञा का लोप नहीं करना, सूत्र की आज्ञानुसार ही कथन करना, विकथा नहीं करना, उपदेश सुनते समय या शास्त्र पढ़ते समय कोई शङ्का हो तो शङ्का दूर करने के

लिये विनय पूर्वक थोड़े शब्दों में ऐसे तरीके से कि जिससे सभा में क्षोभ पैदा न हो, विनय पूर्वक प्रश्न करना, वक्ता की परीक्षा के निमित्त से या उसका अपमान करने की इच्छा से प्रश्न पूछना कदापि उचित नहीं। जो उत्तर मिले उसको शांति पूर्वक ग्रहण करना शास्त्र विनय है, शास्त्र को उच्चासन पर विराजमान करके आप नीचे बैठकर पढ़ना, शास्त्रों का प्रचार करनां, जीर्ण शास्त्रों का उद्धार करना, उनको सुरक्षित रखने के उपाय जुटाना इत्यादि सब शास्त्रविनय है। इस प्रकार देव गुरु शास्त्र की विनय करना धर्म का मूल है।

विनय दो प्रकार का होता है। निश्चय विनय तथा व्यवहार विनय। अपनी प्रवृत्ति ऐसी बनाये रखना कि जिससे राग द्वेष द्वारा अपनी आत्मा का घात न हो सके, यही आत्म विनय है। आत्म विनय में विचार होता है कि मेरा जीव चतुर्गति परिभ्रमण से छूटे, मेरी आत्मा में मिथ्यात्व कषाय अविनय आदिक के भाव जाग्रत न होने पावें, मेरी आत्मा के ज्ञानादिक गुणों का घात न होने पावे यह सब आत्म विनय है इसी का नाम निश्चय विनय है। जिसके मान कषाय घट जाता है उसी से व्यवहार विनय बन आती है। वह विचारता है कि मेरे द्वारा कभी किसी का अपमान न हो, जो दूसरों का आदर सन्मान करता है दूसरे स्वयं उसका आदर सन्मान करते हैं, जो दूसरों का अपमान करता है दूसरे उसका अपमान किया करते हैं। सब जीवों के लिये मिष्ट वचन बोलना, किसी का तिरस्कार नहीं करना विनय है। अपने घर पर आने वालों का यथायोग्य सत्कार करना, उनका स्वागत करना, उनको यथायोग्य स्थान आसन आदि देकर उनकी क्षेम कुशल पूछना, उनके भोजन पान की यथा योग्य आदर पूर्वक व्यवस्था करनी यह सब व्यवहार विनय है। रोगी दुखी का वैयावृत्य

करना विनय है, दुःखित मनुष्यों को विश्वास देना, कोई दुखियारा मनुष्य अपने पास अपनी दुःख भरी कहानी सुनाने को आवे तो उसका दुखड़ा सुनना, अपनी शक्त्यानुसार उसका कष्ट दूर कर उसका उपकार करना, यदि अपने में उसका दुःख दूर करने की सामर्थ्य न होवे तो कम से कम उसकी धीर बंधाना, उस को सन्तोषादि का उपदेश देकर उसको संबोधना, यह सब व्यवहार विनय है, यह परमार्थ विनय का कारण है। इससे यश की प्राप्ति होती है और धर्म की प्रभावना होती है। मिथ्या-दृष्टि का भी कभी अपमान नहीं करना चाहिये, उसके साथ भी मीठे वचन बोलने चाहियें, और उसको यथायोग्य आदर सत्कार करना चाहिये। कटुक वचन तो महापापी, द्रोही, दुराचारी के प्रति भी नहीं कहने चाहियें। दुष्ट जीवों की विराधना के भाव न कर उनकी भी रक्षा के भाव रखना उनको विनय करना है। अन्य धर्मावलंबियों के मंदिर, उनकी मूर्त्ति आदि को देख वैर बुद्धि से उनकी निंदा नहीं करनी चाहिये। गृहस्थ को योग्य है कि इस प्रकार परमार्थ और व्यवहार दोनों प्रकार की विनय को समझ कर अपनी प्रवृत्ति करे।

समस्त परिग्रह के त्यागी महा मुनीश्वरों को यदि कोई मिथ्यादृष्टि वन्दना करता है तो वे उसको आशीर्वाद देते हैं। चांडाल भील आदि अधम जाति वाले भी यदि वन्दना करते हैं तो उनको भी "पाप क्षयोस्तु" पापक्षय होवे इत्यादिक आशीर्वाद देते हैं। ऐसे यदि विनय-अंग को धारण करते हो तो बालक, अज्ञान धर्म रहित तथा किसी भी नीच अधम जाति वाले की यदि तुम विनय नहीं करना चाहो तो अपमान या तिरस्कार तो उसका कभी भूलकर भी न करो। इस मनुष्य जन्म का भूषण विनय को समझो और भावना करो कि विनय के बिना हमारे

जीवन की एक घड़ी भी न जाने पावे। ऐसे विनय गुण की महिमा को हृदय स्थल में अंकित करके इसके उपासक बनो और भावना भावो। "हे विनय संपन्नता गुण हमारे हृदय में निरन्तर तेरा निवास हो, तेरे प्रसाद से अब मेरी आत्मा में अष्ट प्रकार के मद में से कोई भी न आने पावे। जो इस प्रकार विनय संपन्नता नाम भावना को भाता है उसका परंपरा से अवश्य कल्याण होता है। कहा है :—

"विनय महा धारें जे प्राणी, शिव वनिता की सखी बखानी"

शीलव्रतेष्वनतीचार—अहिंसादि पंच व्रतों के पालन करने में तथा क्रोधादि कषाय वर्जित समता रूप परिणामों को सुरक्षित रखने में कोई दोष नहीं लगने देना और मन वचन काय की प्रवृत्ति को किसी प्रकार भी विकृत तथा दूषित नहीं होने देना शीलव्रतेष्वनतिचार नाम की तीसरी भावना है। शील वास्तव में आत्म-स्वभाव को ही कहते है, आत्म स्वभाव के नाश ही हिंसादिक पांच पाप हैं, उनमें से काम सेवन नाम का एक ही पाप हिंसादि समस्त पापों की पुष्टि करने वाला है, क्रोधादि कषायों की तीव्रता करने वाला है, इसलिये इस भावना में ब्रह्मचर्य की प्रधानता को लेकर वर्णन किया जाता है। शील दुर्गति के हरण करने वाला है, शुभगति का कारण है। जीवन तप व्रत संयम के पालन से ही सफल माना जाता है, शील बिना तप करना, व्रत धारण करना, संयम पालना, मृतक के अंग के समान देखने मात्र हैं, निर्जीव हैं, किसी भी काम के नहीं। शील रहित मनुष्य का तप संयम व्रत का धारण करना, धर्म की निन्दा तथा हंसी का कारण है। इसीलिये शील को धर्म का मुख्य अंग जानकर इसका पालन करना चाहिये। चंचल मन को काबू में करना

चाहिये। एक चंचल मन मनुष्य से कितने ही अनर्थ करा डालता है। जब यह मन काम से उन्मत्त होता है तो समता भाव को विध्वंस कर डालता है, सुबुद्धि को भ्रष्ट कर देता है, काम के वश हो सम्यक् धर्म के मार्ग में चलने वाला मनुष्य भी ज्ञान से च्युत हो जाता है, किसी की शिक्षा उसे लगती ही नहीं, उसकी सारी प्रवृत्ति पाप रूप हो जाती है उसके सब गुण काफूर हो जाते हैं। कामी के चित्त में दया नहीं रहती, विवेक जाता रहता है, सदैव उसका चित्त विक्षिप्त रहता है, धर्म कर्म सब छूट जाते हैं, कामांध हुवा यों ही भ्रमण करता फिरा करता है, दुर्गति का पात्र होता है। यह काम संसार बंध का कारण है। कामी पुरुष व्यवहार शुद्धि से भी डिग जाता है। यह काम आत्मा के ज्ञान दर्शनादि निज स्वभाव का घातक है। इसलिये जिसने शील की रक्षा की उसने ही शांति तप व्रत संयम सबको पाला, निज आत्म स्वभाव से चलायमान न होने को ही तो शील कहा है। शील पालन करने वाले का थाड़ा व्रत तप संयमादि भी विशेष फल को देने वाला होता है। ऐसा जान अपने शील व्रत को सदैव निरतिचार पालन करने की भावना करो, स्वयं कुशील के मार्ग में न चलो, दूसरों को कुशील मार्ग में चलने का उपदेश मत दो, कुशील मार्ग में चलने वालों की अनुमोदना मत करो, उनकी कुसंगति से दूर रहो, स्त्रियों के संसर्ग से बचो, शील के भ्रष्ट करने वाले समस्त ही कारणों से अपने को बचाओ। मुनिजनों के तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन होता है, उनके तो समस्त स्त्री मात्र का पूर्ण निरतिचार का त्याग होता है। गृहस्थ के लिये उचित है कि अपने शील व्रत की रक्षा के हेतु एक अपनी विवाहिता स्त्री बिना और सब स्त्रियों के संसर्ग का त्याग करे। दुष्ट बुद्धि को लिये हुवे स्वप्न में भी उनकी कथा न करे, उनसे वार्त्तालाप न करे, तथा उनको दुष्ट

निगाहों से देखें नहीं, इस प्रकार काम विकार के कुफल तथा शील की महिमा को अच्छी तरह समझकर अपनी आत्मा में शील की शुद्धता के लिये भावना करो, यह शील व्रत मनुष्य जन्म में ही पल सकता है इसलिये यदि जन्म सफल करना चाहते हो तो शील को उज्ज्वल बनाओ, इससे तुम्हारा कल्याण होगा और तुम संसार के अन्य प्राणियों के दुःख संकट दूर करने में समर्थ होगे। कहा है:—

"शील सदा दृढ़ जे नर पालें, सो औरन की आपद टालें"।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग—हे आत्मन् ! यह मनुष्य जन्म पाकर निरन्तर ज्ञानाभ्यास ही करो, ज्ञानके अभ्यास बिना एक क्षण भी मत जाने दो, ज्ञान के अभ्यास बिना मनुष्य पशु के समान है। यथा योग्य समय में जिनागम का पठन पाठन करो, और समभाव के साथ ध्यान करो। शास्त्रों के अर्थ का चिन्तवन करो। विशेष ज्ञानी जन तथा गुरुजन की नम्रता पूर्वक वन्दना विनय करो, धर्म सुनने के इच्छुक पुरुषों को धर्म का उपदेश दो। इत्यादिक बातों का करना ही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। ज्ञानोपयोग चैतन्य की परिणति है, इसीलिये क्षण क्षण में निरन्तर चैतन्य की भावना करना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। इस भावना का भावनहारा विचार करता है। अनादि काल से काम, क्रोध, मान, लोभ, कषाय मेरी आत्मा के साथ लगे चले आरहे हैं, इनका संस्कार मेरी आत्मा से अनादि से चला आरहा है, अब मेरी ऐसी भावना होवे कि किसी तरह जिनेन्द्र प्रभु के परमागम का सेवन करके उसके प्रभाव से मेरो आत्मा, राग द्वेषादि विभाव परणति से सर्वथा भिन्न अपने निज स्वाभाविक ज्ञायक स्वभावरूप ही में तिष्ठे और रागादिक के वशीभूत न हो

इसमें मेरी अपनी आत्मा का हित है। नये शिष्यों के सामने श्रुत अर्थ को ऐसा प्रकाश करना जिससे शिष्यों की सब संशय मिट जावे और उनका शंका समाधान होकर उनके हृदय में यथावत् स्वपर पदार्थ का स्वरूप साफ साफ प्रगट हो जावे। पाप पुण्य का स्वरूप, लोकालोक का स्वरूप, मुनि श्रावक धर्म का स्वरूप, इनका सत्यार्थ निर्णय हो जावे, ऐसा ज्ञानाभ्यास करे। अपने चित्त में संसार शरीर भोगों के प्रति उदासीनता का चिंतवन करना, क्योंकि संसार देह भोगों का चिंतवन करने से रागद्वेष तथा मोह ज्ञान को विपरीत नहीं कर सकते हैं, समस्त द्रव्यों में एक आत्म-द्रव्य का जुदा अनभव होने लगे, यही ज्ञानोपयोग है। निरन्तर ज्ञानाभ्यास से विषयों की वाञ्छा नष्ट हो जाती है, कषायों का अभाव हो जाता है। माया मिथ्या निदान तीनों शल्य ज्ञानाभ्यास से ही नष्ट होती हैं। ज्ञानाभ्यास से ही अनेक प्रकार के विकल्प नष्ट हो मन स्थिर होता है। ज्ञानाभ्यास के द्वारा ही धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान में स्थिति होती है, ज्ञानाभ्यास से ही व्रत संयम में दृढ़ता आती है, ज्ञानाभ्यास से ही जिनेन्द्र के शासन में दृढ़ श्रद्धा और प्रवृत्ति होती है। अशुभ का नाश भी ज्ञानाभ्यास से ही होता है, ज्ञानाभ्यास से ही जिनेन्द्र के धर्म की प्रभावना होती है, ज्ञानाभ्यास से चिरकाल के संचित अशुभ कर्म का अन्त होता है, जिस कर्म को एक अज्ञानी किरोड़ों वर्ष तक तपश्चरण करने के बाद भी खपाने में असमर्थ रहता है, ज्ञानी ज्ञानाभ्यास के बल से उसे एक अन्तर्मुहूर्त में खपा देता है, जिनधर्म की नींव ज्ञानाभ्यास पर ही है, ज्ञानाभ्यास जिन-धर्म का एक स्तम्भ है। ज्ञानाभ्यास से ही धैर्य, सन्तोष तथा उत्तम क्षमादि गुणों का प्रकाश होता है, ज्ञानाभ्यास से ही भक्ष्य-अभक्ष्य, योग्य-अयोग्य, हेयोपादेय का विचार

जीव को होता है, ज्ञान बिना व्यवहार और परमार्थ दोनों नष्ट हो जाते हैं, ज्ञानरहित चाहे राजपुत्र ही क्यों न हो उसका भी निरादर होता है। ज्ञान के बराबर कोई धन नहीं है, ज्ञान के बराबर कोई दान नहीं है। दुःखी को, सुखी को एक ज्ञान ही शरण है। ज्ञान के द्वारा ही स्वदेश में तथा परदेश में मनुष्य का आदर सत्कार होता है, ज्ञान धन एक ऐसा धन है जा किसी दूसरे को दिये जाने पर घटता नहीं। ज्ञान ही सम्यक् दर्शन को विकसित करने वाला है, ज्ञान से मोक्ष होता है, सम्यक् ज्ञान आत्मा का अविनाशी स्वाधीन धन है। ज्ञान बिना संसार समुद्र में डूबते हुए प्राणियों का हस्तावलम्बन देकर और कौन रक्षा कर सकता है? ज्ञान समान मनुष्य का और कोई भूषण नहीं है। विद्या विहीन मनुष्य यदि सोने चांदी तथा जवाहर जड़े जेवर भी पहनता है तो ज्ञान बिना उसकी शोभा नहीं। वह एक कठ पुतली के समान है। निर्धन के लिये तो सम्यक् ज्ञान परम निधान के प्राप्त कराने वाला है। भगवान करुणानिधान वीत-राग गुरु की भव्य जीवों के लिये यही शिक्षा है कि हे भव्य जीवो! अपनी आत्मा को सदैव सम्यक् ज्ञान के अभ्यास में लगाओ, मिथ्याज्ञान का परिहार करो, सम्यक् और मिथ्या की परीक्षा करो। अपनी संतान को पढ़ाओ, दूसरों को पढ़ाओ, जो धनवान हैं वे यदि अपने धन को सफल करना चाहते हैं तो पढ़ने पढ़ावने वालों की आजीविका का यथोचित प्रबन्ध कर उनकी स्थिरता करावें, पाठ्य पुस्तकें तय्यार कराकर विद्यार्थियों को देवें। अशुद्ध पुस्तकों को शुद्ध करें करावें, पठन पाठन के लिये विद्यालय, छात्रशाला, स्वाध्याय शाला आदि स्थापित करें करावें, पठन पाठन में तथा ज्ञान श्रवण में अपने समय को लगावें। अवसर व्यतीत होता जा रहा है, जब तक आयुकाय बन रही

है, इन्द्रियां शिथिल नहीं होती हैं, मनुष्य जन्म की एक घड़ी भी सम्यक् ज्ञान बिना मत गंवाओ। ज्ञान रूप धन परलोक में साथ जाने वाला है, ज्ञानाभ्यास की महिमा अकथनीय है। जो गृहस्थ हैं वे भावना करें कि हमें ज्ञानोपयोग की परम शरण प्राप्त होवे और त्यागी महात्मा भावना करें कि एक क्षण मात्र के लिये भी उनका आत्मा ज्ञानोपयोग से च्युत न होने पावे, सदा उसी में स्थिर रहा करे।

"श्रुतेभक्तिः श्रुतेभक्तिः श्रुतेभक्तिः सदास्तुमे
सद्ज्ञानमेव संसार वारणं मोक्ष कारणम्"

"अर्थात् श्रुतज्ञान की भक्ति मुझे सदा प्राप्त होवे" २। इससे सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो संसार से पारकर मोक्ष प्राप्ति को देने वाला है। वास्तव में सम्यक्ज्ञान से संसार परिभ्रमण के प्रबलकारण मोह का विध्वंस होता है जैसा कि कहा है:—

"ज्ञानाभ्यास करे मन मांही, ताके मोह महातम नांहीं"

संवेग—संसार देह भोगों से विरक्तता होना और धर्म तथा धर्म के फल में अनुराग होना संवेग है। यह प्रत्यक्ष देखने में ही आरहा है कि संसार में यह जीव मोह के निमित्त से पुत्र, स्त्री, मित्र, विषय भोग शरीर इत्यादि को अपना २ कह कर पुकारता है, इन पर नाज़ करता है, इन के कारण सवेरे से शाम तक झूठ बोलता है, नाना प्रकार के पाप करता हुआ शरमाता नहीं—अपने पाप के बन्धनों को क्षण २ में भारी बनाता है, यह नहीं समझता कि इन सब का सम्बन्ध वास्तव में आत्मा से कुछ नहीं है, मोह उदय से यह संसारी प्राणी इन को 'मेरा मेरा' कहकर पुकारता है, यह सब क्षण भंगुर हैं। जिस पुत्र से यह जीव राग करता है उस के गर्भ के समय से ही माता पिता को जो जो कष्ट उठाने

पड़ते हैं उन सब को भगवान् ही जानते हैं। जन्म होते समय तो माता को कितना कष्ट होता है, जन्म होने के बाद उस के पालन पोषण में कितना कष्ट और खर्च होता है। माता पिता मोह उदय से स्वयम् भूखा मरना, कष्ट भोगना पसन्द करेंगे, परन्तु उस के लिये अपनी शक्त्यानुसार हर एक चीज का अच्छे से अच्छा प्रबन्ध करने का प्रयत्न करेंगे। इस पर भी पुत्र की यदि बालअवस्था में मृत्यु हो जाती है, या मूर्ख व्यसनी और दुराग्रही तीव्र कषायी हो जाता है तो इस जीव को कितना दुःख होता है, रात्रि दिन क्लेश रहता है। जब तक माता पिता उस के स्वार्थ साधन के योग्य रहते हैं उस समय तक उन की बात पूछता है, धन रहित होवें तो उन का निरादर करता है। ऐसा ही स्त्री के सम्बन्ध में भी विचार करें—स्त्री संसार के बन्धनों को दृढ़ करने वाली है, विषय भोगों में फंसानेवाली, मूर्छा बढ़ाने वाली, संयम का घात करने वाली है। स्त्री के मोह में फंसकर यह जीव सब धर्म-कर्म को भूल जाता है। कलिकाल में मित्र भी स्वार्थ के सगे होते हैं, विषयों में उलझाने वाले सप्तव्यसन में फंसानेमें सहकारी होते हैं। धनवान देखते हैं तो मित्रता का दम भरते हैं, निर्धन, बलहीन से कोई बात करना तक भी पसंद नहीं करता। यह संसार असार है, अनादिकाल से यह संसारी जीव इस चतुर्गति-रूप संसारमें परिभ्रमण करता चला आरहा है, इन्द्रिय विषयों को अपने लिये हितकारी जान उनके पीछे अन्धा हुआ दौड़ता फिरता है। यह विषय भोग आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले हैं, तृष्णा के बढ़ाने वाले हैं असन्तोष की वृद्धि करने वाले हैं। विषयों जैसा आताप तीनलोक में और कोई नहीं है। यह विषय भोग नरकादि कुगति के कारण हैं, धर्म से विमुख करने वाले तथा कषायकी पुष्टि करने वाले हैं, कुगति के दूत हैं, इस लिये दूर ही से त्यागने

योग्य हैं। ज्ञान को विपरीत करने वाले, विष के समान प्राणों का अन्त करने वाले और अग्नि के समान दाह उत्पन्न करने वाले हैं। इन से राग नहीं करना ही जीव के लिये कल्याण कारी है। यह हमारा शरीर ही जिस को हम मल मल कर धोते हैं, बढ़िया से बढ़िया वस्त्रादि से जिसे हम सजाते हैं, जिस की पुष्टि के लिये हम नाना प्रकार के आडम्बर रचते हैं, झूठ सच बोलते, अनीति और अन्याय करते हैं हमारा नहीं, अनेक रोगों का निवास स्थान है, अशुचिता का पुंज है। क्षण २ जीर्ण होता जाता है जब आयु कर्म का अन्त होता है तो किरोडों उपाय करने पर भी छूटता ही है। इस प्रकार पुत्र मित्र कलत्र (स्त्री) संसार इन्द्रिय भोग और शरीर के दुख देने वाले स्वरूप को जान कर इन से विरक्त होना संवेग है ! संसार से भयभीत मुमुक्षुओं के लिये संवेग भावना का चिन्तवन करना ही श्रेय है । संवेग भावना से संसार देह भोगों से विरक्तता हो परम धर्म में अनुराग बढ़ता है। वस्तु स्वभाव का नाम धर्म है । उत्तम क्षमादि दश लक्षण रूप धर्म है, रत्नत्रय स्वरूप धर्म है, जीव दयारूप धर्म है। पर्याय बुद्धि शिष्यों को समझाने के लिये ही धर्म को चार भेद रूप कह दिया है, वैसे तो धर्म्म वस्तु का स्वभाव ही है। वस्तु अर्थात् आत्मा का स्वभाव ही उत्तम क्षमादि दश लक्षण रूप है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता रूप रत्नत्रय धर्म कोई आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है, आत्मा का ही निज स्वभाव है। दया भी आत्मा का ही धर्म है । इस प्रकार जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित दश लक्षण धर्ममें अनुरागका होना संवेग है। कपटरहित रत्नत्रय धर्म में अनुराग करना संवेग है । जीवों की रक्षा करने रूप जीवों की दया में परिणाम होना सब संवेग है। मुनीश्वरों तथा गृहस्थ के धर्म में अनुराग करना संवेग है।

वस्तु अर्थात् आत्मा का स्वभाव केवल दर्शन केवल ज्ञान है, आत्मा का, अपने इस निज स्वभाव में लीन होना प्रशंसनीय संवेग है। इसी से धर्म में अनुराग होना संवेग है, और धर्म के फल को अत्यन्त मिष्ट जानना संवेग है। आत्म बल की अधिकता, चतुरता, पंडितपना, मान्यता, निर्मल यश की विख्यात, बुद्धि की उज्वलता, सत्पुरुषों की संगति का मिलना, बेरोग शरीर का होना, न्यायमार्ग में प्रवृत्ति, वचन की मिष्टता इत्यादि उत्तम सामग्री का प्राप्त होना, धर्म में प्रीति करने तथा धर्मात्माओं की सेवा करनेका फल है। धर्म का सर्वोत्कृष्ट फल मोक्ष पद अर्थात् विकल परमात्म पद की प्राप्ति है। धर्म की तथा धर्म के फल की महिमा अकथनीय है। जो धर्म और धर्म के फल को त्रैलोक्य में उत्कृष्ट जानता है उसके संवेग भावना होती है। धर्म सहित साधर्मीजनों को देख हर्षित होना, धर्म कथनी में आनन्दमय होना और भोगों से विरक्त होना संवेग भावना है। इस को आत्म हित की कर्त्ता जान निरंतर भावना, परंपरा से मोक्ष सुख की प्राप्ति का कारण है। जैसे कहा है—

जो संवेगभाव विस्तारै, स्वर्ग मुक्ति पद आप निहारै।"

शक्तितस्त्याग—यह त्याग भावना मनुष्य जन्म का मंडन है। बहिरंग और अंतरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से ममत्व भाव छोड़ने का नाम त्याग है। अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का होता है। मिथ्यात्व, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ।

मिथ्यात्व—शरीरादिक पर द्रव्यों को ही आत्मा मान बैठना मिथ्यात्व परिग्रह है। संसार में प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, अपने

गुण तथा अपने पर्याय को लिये हुए है, उन से भिन्न नहीं है, यही उस वस्तु का स्वभाव है, अपना स्वरूप है । उदाहरण के तौर पर सोने को ले लीजिये, सोना एक द्रव्य है, पीला होना भारी होना इत्यादि इस के अपने गुण हैं, सोने की बालियां, हार, कुंडल इत्यादि जेवर रूप, तथा अन्य अनेक वस्तु रूप जो २ भी सोने से तय्यार की जा सकती हैं, सब सोने की पर्याय ही हैं । इस लिये सोना और किसी दूसरी वस्तु का नहीं, अन्य वस्तु कोई सोना नहीं । सोना ही सोना है । संसार में एक वस्तु दूसरी वस्तु की कभी हुई नहीं, न है और न कभी होगी । जो जिस वस्तु का स्वभाव है वही उसका अपना है । ऐसे ही आत्मा आत्मा का है आत्मा अपने निज ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में स्थित है । न आत्मा किसी अन्य द्रव्य का है न अन्य कोई भी द्रव्य आत्मा का है । यह संसारी जीव शरीर को आपा मान रहा है, मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ, मैं राजा हूँ, मैं रङ्क हूं, मैं बूढ़ा, मैं बालक, मैं बलवान्, मैं निर्बल, मैं मनुष्य, मैं तिर्यंच इत्यादि कर्मकृत विनाशीक, पर द्रव्य कृत पर्यायों में आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व परिग्रह है । मिथ्यात्व से ही तो यह जीव मेरा मेरा किया करता है, मेरा घर, मेरा पुत्र, मेरा राज्य, मैं ऊंच, मैं नीच इत्यादिक कल्पना कर इन समस्त पर पदार्थों में आत्म-बुद्धि कर रहा है । पुद्गल के नाश को अपना नाश मानता है, पुद्गल के घटने बढ़ने को अपना घटना बढ़ना जानता है, जैसा पं० वर स्वर्गीय दौलतरामजी ने छहढाले में भी कहा है:—

"तन नशत आप को नाशमान, तन उपजत अपनी उपज-जान" इस प्रकार पर पदार्थ में आत्मबुद्धि करें अनादि काल से यह जीव अपने आपे को अर्थात् अपने निज स्वरूप को भूल रहा है और चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है । वास्तव

में मिथ्यात्व ही संसार है। इसलिये समस्त परिग्रह में आत्मबुद्धि होने का मूल कारण यह मिथ्यात्व परिग्रह ही है। जिस की आत्मा से मिथ्यात्वरूप महा अंधकार का पर्दा उठ जाता है, उस के मिथ्याज्ञान नहीं रहता वह पर द्रव्यों में कभी भी आपा नहीं मानता। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखता और जानता है।

वेद—वेद नाम कर्मके उदयसे स्त्री पुरुषों में जो काम सेवनके भाव परिणाम होते हैं, उस काम में तन्मय हो कर काम भाव को आत्म भाव मानना "वेद" परिग्रह है। काम तो वीर्यादिकृत शरीर का एक विकार है, इस को अपना स्वभाव मान बैठना वेद परिग्रह का एक विकार है, इस को अपना स्वभाव मान बैठना वेद परिग्रह है।

राग—धन, ऐश्वर्य, पुत्र, स्त्री, रुपया, पैसा, ज़ेवर आदि पर द्रव्यों में आसक्त होना राग परिग्रह है।

द्वेष—दूसरों की विभूति, परिवार, ऐश्वर्य, पांडित्य, तथा उन की बढ़ोतरी को देख कर उन से जलना, उन का बुरा चाहना उन से बैर भाव रखना द्वेष है।

हास्य—हंसी मज़ाक में आसक्त होना हास्य है।

रति—पांचों इन्द्रियों के मन वांछित भोगोपभोगों में तल्लीन होना।

अरति—अनिष्ट वस्तुओं का संयोग हो जाने पर खेदखिन्न होना, संक्लेशित होना।

भय—डर, अपने मरण को, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग का निरतर डर बना रहना।

शोक—अपने इष्ट, स्त्री, पुत्र, बन्धु मित्र, धन, योवन आदि का बियोग होते, उन का संयोग बराबर बना रहने की वाञ्छा से संक्लेशित होना शोक है।

जुगुप्सा—घिनावनी चीजों को देख कर, उस का नाम या वर्णन सुन कर उन के चिन्तवन से, उन के छूने से परिणामों के अंदर ग्लानि (नफ़रत) पैदा होना, जुगुप्सा है। अथवा दूसरों का पुण्योदय देख परिणामों में क्लेशित होना ईर्षा करना, अदेखसका भाव होना, सुहान न होनी जुगुप्सा है।

क्रोध—गुस्सा करना, परिणामों में रोष कर तप्तायमान होना।

मान—कुल, जाति, धन, ऐश्वर्य, रूप, बल, ज्ञान, बुद्धि इन का मद करना, अपने को बहुत बड़ा मान दूसरों को घटिया जान उनका अपमान तथा निरादर करना, कठोर परिणाम रखना।

माया—टेढ़े परिणाम रखना, कुटिलता के भाव होना, कपट छल दगा-फरेब के भाव होना।

लोभ—परद्रव्यों के ग्रहण करने की तृष्णा होना।

इस प्रकार संसार परिभ्रमण के कारण, आत्मा के ज्ञानादिक गुणों के घातक यह चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह हैं। धन धान्य क्षेत्र स्वर्णादिक अचेतन तथा स्त्री, पुत्र, दासी-दास आदि चेतन मूर्च्छा को उत्पत्ति के कारण होने से वाह्य परिग्रह हैं। इन अंतरंग और वहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग से ही त्याग धर्म होता है। यद्यपि वाह्य परिग्रह रहित तो एक रंक दरिद्री मनुष्य स्वयम् बना बनाया होता है, परन्तु अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग तो बड़ा दुर्लभ है। गृहस्थ के इन दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग एक देश (Partial) होता है; मुनियों के सकल अर्थात् पूर्ण त्याग होता है। कषायों का त्याग धर्म है। इन्द्रियों को विषयों से रोकने में त्याग धर्म है। रसादिक के त्याग में त्याग धर्म है। रसना इन्द्रिय के जीतने से समस्त पापों का त्याग सहज ही हो जाता है। जिनेन्द्र के परमागम का

अध्ययन करना, दूसरों को अध्ययन कराना, शास्त्रों को लिखा कर देना, उनको शोधना शुधवाना ये सब परम उपकार करने वाला त्याग धर्म है। मनके दुष्ट विकल्पों का अभाव करना, दुष्ट विकल्पों के उत्पन्न करने वाले कारणों को दूर कर, प्रथमानुयोगादि चारों अनुयोगों की चर्चा में चित्त लगाना त्याग है। मोह का नाश करने वाला धर्मोपदेश श्रावकों को देना महान् पुण्य का बन्ध कराने वाला त्याग धर्म है। वीतराग धर्म के सुनने से अनेक प्राणियों के परिणाम पाप से भयभीत हो जाते हैं, अनेक प्राणियों पर धर्म का प्रभाव पड़ता है। उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के पात्रों को भक्तिभाव से आहार दान देना, प्रासुक औषधि दान देना, ज्ञान दान देना, ज्ञान के उपकरण सिद्धान्त के पढ़ने योग्य पुस्तकों का दान देना, मुनियों के योग्य तथा श्रावकों के योग्य वस्तिका का दान देना त्याग है। गुणों के धारकों को तप की वृद्धि करने वाला, स्वाध्याय में लीन करने वाला, ध्यान की वृद्धि का कारण, आहारादिक चार प्रकार का दान परम भक्ति के साथ विकसित चित्त होकर, अपने जन्म को कृतार्थ मानते हुवे तथा अपने ग्रहस्थ जीवन को सफल मानते हुवे, बड़े आदर के साथ पात्र दान देवो। पुण्योदय से जिनका कल्याण होना होता है, पात्र दान उनही के हाथों से होता है, पात्र का लाभ होना दुर्लभ है पात्र दान की महिमा अकथनीय है। क्षुधा तृषा से पीड़ित, रोगी, दरिद्री, बूढ़े, असमर्थ दीन हीन जीवों को करुणा बुद्धि से दान देना सब त्याग धर्म है। मनुष्य जन्म त्याग ही से सफल है, धन धान्यादि पाना भी त्याग से ही सफल है। त्याग के बिना ग्रहस्थ का घर स्मशान समान है, और ग्रहस्थ का स्वामी पुरुष मृतक के समान है, कुटुम्बी जन गृद्ध पक्षी के समान हैं, जो इसके धन धान्य को चूंट २ कर खा रहे हैं। दान की

महिमा विचित्र है, दान से इस जीव को स्वर्ग और मोक्ष के सुख की प्राप्ति होती है। कहा है:—

"दान देय मन हर्ष विशेषै, यह भव यश परभव सुख देखै।"

शक्तिस्तप भावना:—यह शरीर दुख का कारण है, अनेक रोग इसमें होते हैं, वास्तव में देखा जावे तो यह शरीर अनित्य है, अस्थिर है, अशुचि है, कृतघ्नवत् है। जैसी दशा एक कृतघ्नी की होती है कि कोई कितना ही उपकार उसका क्यों न करे, वह कभी अपना हो नहीं सकता, वह तो कृतघ्नी (एहसान फरामोश) ही रहेगा, ठीक वही हाल इस शरीर का है; चाहे जितनी इसकी सेवा कीजिए, चाहे जितने इसे हृष्ट पुष्ट करने के उपाय कीजियें यह अपना नहीं होगा। स्वर्गीय कविवर पं० भूधरदासजी ने वैराग्य भावना में फर्माया है:—

"पोषत तो दुख दोष करे अति सोखत सुख उपजावे,
दुर्जन देह स्वभाव बराबर मूरख प्रीति बढ़ावे ॥
राचन योग्य स्वरूप न याको विरचन योग्य सही है।
यह तन पाय महातप कीजे यामें सार यही है" ॥

इस लिये स्वच्छन्दता पूर्वक तथा उद्दंडता पूर्वक इस शरीर को पुष्ट करना योग्य नहीं है, इस को काबू में रख यथार्थ विधिपूर्वक इस से काम लेना चाहिये। इस शरीर के बिना धर्म का साधन भी नहीं हो सकता, रत्नत्रय धर्म पालन इसी शरीर के द्वारा होता है, इसी से दशलक्षण धर्म सधता है, इसी से व्रत आचरण रूप प्रवृत्ति होती है। इस लिये जैसे एक सेवक को यथायोग्य भोजन पान कराकर उससे यथायोग्य काम लिया जाता है, वैसे ही इस शरीर को यथायोग्य भोजन पान द्वारा स्वस्थ रख कर जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग के अनुकूल इस से कार्य लेना योग्य है जैसे ऊपर कहा है:—"यह तन पाय महा तप कीजे यामें सार यही

है।" इस शरीर को पाकर शक्त्यानुसार तपश्चरण करना योग्य है, इच्छाओं के निरोध करने का नाम तप है। तप के बिना इन्द्रियों की लोलुपता कम नहीं हो पाती, तप के बिना त्रैलोक्य विजयी काम को नष्ट करने की शक्ति होती नहीं, तप के बिना निद्रा तथा प्रमाद को जीत नहीं सकते, तप के बिना शरीर का सुखिया पन दूर हो नहीं सकता। यदि शरीर सधा हुआ हो तो भूख प्यास, गर्मी, जाड़े, आदि की परीषह आने पर परिणामों में कायरता नहीं आवे, संयम से डिगे नहीं। तप कर्म की निर्जरा का महान् कारण है इसलिए तप करना श्रेष्ठ है। अपनी शक्ति को नहीं छिपा कर तप करना चाहिये। क्योंकि यदि शक्ति कम है, और तपश्चरण अधिक किया जावे तो परिणाम संक्लेशित हो जाते हैं, यदि शक्ति से कम तप किया जाता है तो वीर्यान्तराय कर्म का बन्ध होता है। इस लिये जिनेन्द्र की आज्ञानुसार अपनी शक्ति को विचार तप करना उचित है। तप रूपी सुभट की सहायता बिना तो काम क्रोध प्रमादादि बटमार लुटेरे सम्यक् दर्शन, ज्ञान, आचरण धन को छोड़ेंगे नहीं, लूट कर लेजावेंगे, और धन बिना जैसे एक दीन दरिद्री रंक भिखारी बना दर दर मारा फिरता है, उसी प्रकार रत्नत्रय धर्म के बिना यह जीव चतुर्गति रूप संसार में दीर्घ काल तक भ्रमण करता रहेगा। इसलिये ऐसे ढंग से तपश्चरण करना चाहिये कि शरीर में वात, पित्त, कफ ये त्रिदोष विपरीत हो कर रोग पैदा न करने पावें। सब से प्रधान तप तो दिगम्बर दीक्षा का धारण करना है। घर के ममत्व को छोड़, शरीर के सुखिया पन से मुंह मोड़, जाड़ा, गर्मी, धूप, वर्षा, पवन डांस, मच्छर, मक्खी आदि की बाधा जीतने को सन्मुख होना, कोपीन आदि समस्त वस्त्रों को त्याग दशों दिशारूप नग्न वेष को धारण करना अतिशयरूप तप है। कहा है:—

"अन्तर विषयवासना वर्तै बाहर लोक लाज भय भारी।
तातैं परम दिगंबर मुद्रा धर नहिं सकें दीन संसारी॥
ऐसी दुद्धर नग्न परीषह सहैं साधु शील व्रत धारी।
निर्विकार बालक वत् निर्भय तिन के पांयन धोक हमारी॥"

दीनहीन संसारी जीव तो दिगंबरी दीक्षा को धारण नहीं कर सकते। जो धीरवीर शक्ति-शाली, काम सुभट को जीतने वाले, एक बालक के समान निर्विकार तथा निर्भीक होते हैं वेही दिगम्बर दीक्षा को धारण करने में समर्थ होते हैं। जिस से शरीर का सुखियापन नष्ट होता है, उपसर्ग परीषह सहने में कायरता का अभाव होता है वह तप है। स्वर्गलोक की देवांगनायें भी अपने हाव भाव विलास विभ्रमादि द्वारा मन को काम की ओर झुकाने में असमर्थ रहें, किसी प्रकार भी मन विकृत न होने पावे, इस प्रकार काम विकार को जीतना तप है। क्रोध, मान, माया, लोभादिक अन्तरंग के परिग्रह धन, धान्यादि बहिरंग के परिग्रह, दोनों प्रकार के परिग्रह में इच्छा का न होना तप है। इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति का नहीं होना तप है। महा भयंकर निर्जन वन में, तथा पर्वत की गुफा में तथा अन्य विषम स्थान में निर्भय हो ध्यान स्वाध्याय में निराकुलता पूर्वक तिष्ठना तप है। आहार के लाभ अलाभ में समता भाव धारण करना, मीठा, खट्टा, कड़वा, कषायला, ठंडा, गर्म, सरस नीरस भोजन पान में लालसा रहित हो संतोष रूप अमृत का पान करते हुए आनन्द पूर्वक तिष्ठना तप है। दुष्ट देव, दुष्ट मनुष्य तथा दुष्ट तिर्यंच द्वारा किये गये घोर उपसर्ग के समय में कायरता का भाव अपने मन में नहीं आने देना और उस उपसर्ग से कम्पायमान नहीं होना तप है। साधु के अठाईस मूल गुणों का अपनी आत्मा का कल्याण करने के हेतु अखंड रूप पालन करना महान् तप है।

कुवचन कहने वाले, झूठा दोष लगाने वाले, ताड़न, मारण, अग्नि में जलाना आदि उपद्रव करने वालों में (उन से अधिक शक्ति अपने में उन को हानि पहुँचाने की होते हुए भी) द्वेष बुद्धि करके अपने परिणामों को कलुषित नहीं करना और अपनी प्रशंसा करने वालों, बन्दना स्तुति पूजा करने वालों से राग भाव नहीं करना तप है। कहा है:—

"अर्घावतारण असि प्रहारण में सदा समता धरण।"

साधुओं के लिये तो तप परमावश्यक है, परन्तु गृहस्थियों को भी तप की आवश्यकता समय २ पर होती रहती है। समुद्र में जिस प्रकार लहरें उठा करती हैं, उसी प्रकार मन में भी अनेक तरंगें उठा करती हैं। एक इच्छा की पूर्त्ति हो पाती है तो झट से दूसरी इच्छा आ पैदा होती है। इच्छा की पूर्त्ति न होने पर ही इस जीव को दुःख होता है। सुखी होने के लिये इन इच्छाओं की जड़ को उखाड़ फेंकने की आवश्यकता है। मन को निग्रह करने की जरूरत है। तपश्चरण के द्वारा ही तो इन्द्रियों का और इच्छाओं का निरोध किया जा सकता है, और तप से ही मन को काबू में किया जा सकता है—यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि अज्ञान तप कार्यकारी नहीं है। ज्ञान पूर्वक समता भाव सहित तप करना ही श्रेयस्कर है। तपस्वी हो कर इच्छाओं का रखना विरोध रूप है। जिनके चित्त में इच्छायें बनी रहती हैं, जिन के मन की वासनायें वैसे की वैसी बनी रहती हैं, जो संसार के बन्धनों में फंसे रहते हैं वे चाहे कितनी भी तपस्या क्यों न करें उन को वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मन को स्थिर करना, मन को स्वच्छ बनाना, किसी भी गुण को प्राप्त करने की पहली सीढी है। गृहस्थों के लिये सांसारिक इच्छाओं को रोक प्रभु की भक्ति में मन लगाना, व्रत उपवास आदि में

समताभाव पूर्वक प्रवृत्तिकरना, स्वाध्याय करना, सामायिक करना हेयोपादेय के विचार पूर्वक यम नियम आदि का धारण करना, और दृढ़ता पूर्वक उन का पालन करना तप है। इस प्रकार अभ्यास करते २ ही धीरे २ आदत पड़ जाती है, मन पर अंकुश लगता रहता है, जीवन मर्यादा रूप रहता है। परंपरा से मुनि व्रत धारण कर कर्मों का क्षय कर मोक्ष पद के अविनाशी सुख को प्राप्त होता है। कहा है:—

"जो तप तपैं खिपैं अभिलाषा, चूरैं कर्म शिखर गुरु भाषा।"

साधु समाधि भावना—जैसे भंडार में तथा कीमती माल व असबाब के भरे हुए गोदाम में आग लग जाने पर एक गृहस्थ अपनी बहुमूल्य तथा उपकारी चीजों का नाश होने से बचाने के लिये उस अग्नि को बुझाता है, वैसे ही यदि किसी समय में अनेक व्रत शीलादिक अनेक गुणों के भरे भंडार व्रती संयमी तपस्वी महात्माओं पर कोई संकट या विघ्न अशुभ कर्म के उदय से आ जावे तो उस संकट और विघ्न बाधा को दूर कर उन व्रत शीलादि गुणों की रक्षा करना साधु समाधि है। या यदि किसी गृहस्थ के अपने परिणामों को बिगाड़ने वाला मरण आजावे, उपसर्ग हो जावे, रोग हो जावे, इष्ट वियोग या अनिष्ट संयोग हो जावे तो उस समय में भयभोत नहीं होना, चित्त में स्थिरता रखना, दिल को मजबूत रखना, हिरासाँ या परेशान न होकर साम्यभाव में दृढ़ रहना साधु समाधि है। ऐसे समय में एक सम्यक् ज्ञानी जीव विचार करता है कि हे आत्मन्! तुम तो अखंड हो, अविनाशी हो, अजर अमर हो, ज्ञान दर्शन स्वभाव हो, तुम्हारा मरण कैसा है? नाश तो उसीका होता है जो उपजता है, पर्याय का विनाश है, चेतन का विनाश कहां और कैसे हो सकता है। पांच इन्द्रिय, मन बल, वचन बल, काय

वल, आयु और श्वासोश्वास इन दश प्राणों के नाश का नाम मरण है। तुम्हारे तो ज्ञान दर्शन सुख सत्ता आदि भाव प्राण हैं उनका कभी नाश नहीं इसलिये शरीर के नाश को अपना नाश मानना मिथ्याज्ञान है। मृत्यु से डरो नहीं, मृत्यु तो जीव का एक प्रकार से बड़ा उपकारी मित्र है, पुराने जीर्ण शीर्ण गले सड़े शरीर रूपी ग्रह से जीव को निकास दूसरे नवीन ग्रह में अर्थात् उत्तम शरीर में ले जाने वाला है। मृत्यु के बिना समाधिमरण का शुभ अवसर कैसे प्राप्त होवे, मृत्यु के बिना पुण्य पाप का फल कैसे दर्शे ? सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र, तथा सम्यक् तप रूप चारों आराधनाओं की शरण ग्रहण करो, संसार रूपी गहरी दलदल से कौन निकाले; इसलिये जो संसार में आसक्त है और शरीर को ही अपना आपा माने बैठे हैं उनको तो मृत्यु का भय होता है, परन्तु एक सम्यक् दृष्टि तो अपने स्वरूप को सर्वथा शरीर से भिन्न जानता है, उसके भय काहे का ? जिनके साधु समाधि होती है यदि मृत्यु के समय उनको कोई विशेष रोग दुःख भी आजाता है तो वह विचारते हैं कि सम्यक् दृष्टि के लिये तो यह रोग या कष्ट ममत्व भाव को छुड़ाने का कारण है त्याग संयमादि के सन्मुख करने का निमित्त है, प्रमाद का त्याग कराय चारों आराधनाओं में शिथिलता न होने देने का तथा उन में दृढ़ करने का कारण है। वह भली भांति विचारता है कि जो जन्म लेता है उसका मरण भी अवश्य है, अटल है, यदि कायर हूँगा तो मृत्यु बख्शेगी नहीं, और धैर्य पूर्वक रहूँगा तो मृत्यु बख्शेगी नहीं, इसलिये कायरता पूर्वक मृत्यु को, जो साक्षात् दुर्गति का कारण है धिक्कार हो। इसलिये धैर्य धारण कर साहस के साथ इस प्रकार मृत्यु महोत्सव मनाते हुवे मरण करूं कि शरीर छूट जावे और मेरे ज्ञान दर्शन रूप चेतना गुण का

घात न होवे, इस प्रकार मरण करना उचित है। ऐसे सर्वथा निर्भय होकर उत्साह सहित मृत्यु महोत्सव मनाते हुवे, बिना किसी खेद शोक या संक्लेश के, एक सम्यक् दृष्टि का मरण होना साधु समाधि है।

उपसर्ग के आजाने पर भयभीत नहीं होना, कायर नहीं होना, बल्कि उसे पूर्व संचित कर्म की निर्जरा का कारण जानना "साधु समाधि" है। रोग के आ जाने पर कायर नहीं होना, उस को दूर करने का धैर्य पूर्वक इलाज करना कराना और ऐसा विचार करना कि यह जो रोग मेरे हो रहा है इसका अंतरंग कारण तो असाता वेदनीय कर्म का उदय है, और द्रव्य क्षेत्र कालादि बहिरंग कारण हैं, कर्मोदय के उपशम होने पर ही यह रोग शान्त होगा, जब तक कर्मोदय प्रबल है बाहरी उपाय औषधादि रोग मेटने को समर्थ नहीं हैं। असाता कर्म को दूर करने के लिये कोई भी देव, दानव, मंत्र तंत्र आदि समर्थ नहीं हैं पर औषधि आदि तो असाता कर्म के मंद हो जाने पर केवल सहकारी कारण हैं; इसलिये अब संक्लेश भाव को छोड़ समता को धारण कर जो असाता कर्म के मेटने के प्रबल कारण हैं, कायर न होकर इस कष्ट को सहन करना ही मेरा कर्तव्य है, ऐसा करना साधु समाधि है।

इष्ट का वियोग तथा अनिष्ट का संयोग होने पर भयभीत नहीं होना, घबराना नहीं, दृढ़चित्त रहना साधु समाधि है। संसार में मनुष्य जन्म जरा मरण से भयभीत होता है, परन्तु सम्यक् दृष्टि जीव तो यही वांछा करता है कि जब भी आयु का अन्त निकट आवे तो चारों आराधनाओं का आराधन करते हुए, निर्भयता पूर्वक शरीरिक समस्त परद्रव्यों से सर्वथा ममता रहित हुए, मैं समाधि मरण धारण कर मरण को प्राप्त होऊँ। इस

परिवर्तन शील संसार में परिभ्रमण करते २ अनन्त काल व्यतीत हो गया, समस्त पदार्थों का समागम अनेक बार पाया परन्तु सम्यक् समाधि मरण को कभी एक बार भी प्राप्त नहीं हुआ। यदि सम्यक् समाधि मरण की प्राप्ति एक बार भी हो गई होती तो मैं काहे को जन्म मरण का पात्र बना रहता। संसार परि-भ्रमण में अनेक नये २ शरीर धारण किये, ऐसा कौनसा शरीर है जो अनादि काल से अब तक मैंने धारण नहीं किया। यह वर्त-मान शरीर भी विनाशीक है इस से ही क्या ममत्व करूं। कौन-कौन मेरे स्वजन तथा कुटुम्बी नहीं हो चुके हैं, अब भी जो स्वजन हैं या कुटुम्बी हैं उन से क्या मेरा सम्बन्ध सदैव बना रहेगा इस लिये अब उन से क्या मोह करूं ? अनेक बार राजऋद्धि प्राप्त की, अब अपनी इस तुच्छ संपदा से क्या ममत्व करूं। किस की माता, किस का पिता, किस का भाई, किस का पुत्र, यह सब लौकिक सम्बन्ध पर्याय सम्बन्धी हैं जब यह पर्याय ही इस समय छूट रही है, तो यह सम्बन्ध कैसे रह सकते हैं, यह सब अस्थायी हैं इन से क्या ममता करूं। ऐसा कौन सा दुःख या सुख संसार सम्बन्धी रहा जो मैंने नहीं भोगा। अनेक बार नरकों में गया असंख्यात काल पर्यन्त वहाँ अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःख भोगे अनेक बार तिर्यंच गति के अनेक दुःख जो प्रत्यक्ष नित प्रति हम अपनी आँखों से देख रहे हैं भोगे। देव-गति में भी अनेक बार गया, वहां भी सम्यक् दर्शन बिना कष्ट ही भोगे। अनेक बार मिथ्यादृष्टि मनुष्य हुवा, अनेक भवों में जिनेन्द्रका पूजन किया, गुरु की वन्दना की, तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा की, दुद्धर से दुद्धर तपश्चरण किया, श्रुतज्ञान के अङ्गोपांग का ज्ञान प्राप्त किया, प्रभु के समवशरण में पहुँच गया, तथापि अनन्त काल तक भव भ्रमण में ही रहा। यह सब कार्य प्रशंसनीय हैं, पाप

के नाशक तथा पुण्य का विशेष बन्ध करने वाले हैं, परन्तु एक सम्यक् दर्शन के बिना यह सब अकृतार्थ हैं, इन से प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो पाती। सम्यक् दर्शन बिना ये संसार परिभ्रमण को रोकने में असमर्थ हैं। सम्यक् दर्शन बिना समस्त ही क्रिया—कांड केवल पुण्यबंध का कारण है। सम्यक् दर्शन सहित यदि क्रिया है तो संसार का विच्छेद करने में समर्थ है। इस लिये जो भव भ्रमण से भयभीत हैं, और आत्म कल्याण के इच्छुक हैं वह समाधि मरण पूर्वक ही अपने प्राणों का त्याग करते हैं। जैसे एक चतुर व्यापारी जब परदेश में से धन कमा कर जहाज़ में सवार होकर परिश्रम से कमाये हुए उस धन को सुरक्षित रखते हुये सकुशल घर पहुँचने की इच्छा करता है, इसी प्रकार एक धर्मात्मा पुरुष सम्यक् दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय लब्धि को निर्विघ्नता पूर्वक परलोक में ले जाना चाहता है, तो उस के लिये एक मात्र उपाय यह ही है कि वह रत्नत्रय सहित हुआ शरीर का त्याग करे, साधु समाधि भावना का आश्रय का ग्रहण करे। साधु समाधि के द्वारा ही वह रत्नत्रय रूपी धन को परलोक में सुरक्षित ले जाने में सफल हो सकता है। साधु समाधि का प्राप्त होना दुर्लभ है। साधु समाधि चतुर्गति में परिभ्रमण रूप दुःख से छुडाय मोक्ष के निश्चल स्वाधीन, अविनाशी, अनन्त सुख को प्राप्त कराने वाली है। जो भव्य जीव इस की शरण में आते हैं, इस की उपासना करते हैं वे संसार समुद्र को तैर कर अष्ट गुणों के धारक सिद्ध परमेष्ठी पद को प्राप्त होते हैं। कहा है:—

"साधु समाधि सदा मन लावै, तिहुँ जग भोग भोग शिव जावै।"

वैयावृत्ति:—रोग से पीड़ित मुनियों तथा श्रावकों के लिये निर्दोष आहार औषधि वसतिकादि का प्रबन्ध करना, उन की सेवा

टहल करना, तथा उन की विनय और आदर करना, उन के दु:ख को दूर करने के लिये यथा योग्य प्रयत्न करना, यह सब वैयावृत्य है। रोगियों की सेवा करने का नाम वैयावृत्य है। मुनीश्वरों के दशभेद की अपेक्षा से वैय्यावृत्य भी दश प्रकार का बताया गया है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ, इन दश प्रकार के मुनियों के परस्पर में वैयावृत्य होती है। इन दश प्रकार के मुनियों का स्वरूप भी संक्षेप से जान लेना चाहिये।

आचार्य—वे मुनीश्वर होते हैं जो सारे संघ के ऊपर (Head) होते हैं, जो एक प्रकार से संघ के शासक ही होते हैं, पंचाचार का स्वयं पालन करते हैं तथा यथायोग्य चारित्र का पालन अन्य संघ वालों से कराते हैं। जिन से स्वर्ग मोक्ष के साधक व्रत आचरण ग्रहण किये जाते हैं, जो शिक्षा देते हैं वे आचार्य हैं। उपाध्याय—व्रत शील श्रुत के आधार परम विद्वान् मुनीश्वर जिन के निकट रहकर आगम का पठन पाठन किया जाता है—संघ में मुनीश्वरों को पठन पाठन कराने वाले उपाध्याय होते हैं।

तपस्वी—महान् अनशनादि तप को साधन करने वाले मुनिराज।

शैक्ष्य--जो मुनि श्रुताभ्यास में तथा व्रतों की भावना में निरन्तर तत्पर रहने वाले हैं वे शैक्ष्य कहलाते हैं।

ग्लान—रोग पीडित मुनि

गण—वृद्ध मुनियों की परिपाटी के मुनि।

कुल—एक ही आचार्य के दीक्षित मुनि।

संघ—चार प्रकार के मुनियों का समूह।

साधु—बहुत दिनों का दीक्षित मुनि जो सदैव अपनी साधना

में तत्पर रहता है।

मनोज्ञ--जो पंडितपने के कारण, वक्तापने के कारण तथा ऊंचे कुल के कारण लोगों में मान्य होवे, जो धर्म का, गुरु-कुल के गौरव का उत्पन्न करने वाला होवे उसे मनोज्ञ कहते हैं असंयत सम्यक् दृष्टि भी संसार का अभावरूपना होने के कारण मनोज्ञ है।

इन उपर्युक्त दश प्रकार के मुनियों के रोग हो जाने, परीषह से खेदखिन्न हो जाने, श्रद्धान बिगड़ जाने से मिथ्यात्व रूप परिणाम हो जावे तो शुद्ध प्रासुक औषधि, भोजन-पान, योग्य स्थान, आसन, संस्तारा आदि तथा पुस्तक, कमंडलु, पीछी आदि धर्मोपकरण का यथोचित प्रबन्ध करके या कराके उनका उपकार करना, उनको सम्यक्त्व में पुनः स्थापित करना, उनका स्थितिकरण करना इत्यादि उपकार यह सब वैयावृत्य है। यदि भोजन पान औषधादिक द्वारा प्रतिकार करना संभव न हो तो अपने शरीर से उनके कफ, मल, मूत्रादि को दूर करना, साफ करना, तथा मर्यादापूवक उनकी वेदना-अशान्ति को दूर करने वाले अन्य उपचार करना सब वैयावृत्य है। वैयावृत्य के निमित्त से कितने ही गुण जैसे संयम की दृढ़ता, ग्लानि का अभाव, प्रवचन की भक्ति, वात्सल्य, सनाथपना इत्यादि आत्मा में विकसित होते हैं। वैयावृत्य परम धर्म है, यदि वैयावृत्य न हो तो मोक्षमार्ग बिगड़ जावे। स्वयं आचार्यादिक शिष्यों, मुनियों तथा रोगियों की वैय्यावृत्य करने से बड़ी विशुद्धता और उच्चता को प्राप्त होते हैं। श्रावक लोग मुनियों का तथा श्रावक श्राविकाओं का परस्पर में वैयावृत्य करें, औषध दान देकर वैयावृत्य करें। भक्ति पूर्वक यथायोग्य आहार तथा पथ्य आदि तय्यार करके दान देवें,. यदि किसी धर्मात्मा के कर्मोदय से कोई दोष लग गया होवे तो

उसकी मुश्तहिरी न करा उसको ढांकना। जो श्रद्धान से आचरण से डिग गये हों या डिगते हों उनको धर्ममार्ग में स्थिर करना यह सब वैयावृत्य है। आचार्य महाराज शिष्यों को पढ़ावें तथा व्रत संयमादि की शुद्धि का उपदेश देवें सो शिष्य का वैयावृत्य है। शिष्यों का गुरु के प्रति विनय आदर का भाव होना, गुरु की आज्ञा का पालन करना, गुरु की भक्ति करना, गुरु की चरण सेवा में रत रहना सब गुरु की तथा आचार्य महाराज की वैयावृत्य है। अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को राग द्वेषादि दोषों में लीन नहीं होने देना तथा काम, क्रोध, लोभादिक कषाय और इन्द्रियों के आधीन नहीं होना, अपने आत्मा को भगवान् के परमागम में लगा देना तथा दश लक्षण धर्म में तल्लीन होना आत्म वैयावृत्य है।

सवेरे शाम रोगी मुनि का तथा गुरु के शयनासन, कमंडलु, पीछी पुस्तक आदि को नेत्रों से अच्छी तरह देख भाल कर पीछी से शोधना। कमज़ोर रोगी मुनि के आहार औषधि का प्रबन्ध कर के संयम के योग्य उपकार करना तथा उठाना, बिठाना, लिटाना, करवट लिवाना, मल मूत्र उठाना, धोना इत्यादिक वैयावृत्य करना, शुद्ध ग्रन्थों को पढ़ कर धर्म का उपदेश सुन परिणामों को धर्म में लगाना सब वैयावृत्य है। यदि कोई साधु मार्ग की थकावट से खेद खिन्न हो रहे हों तथा उन पर दुष्ट चांडाल पुरुषों द्वारा, दुष्ट राजा तथा राज्य के कर्मचारियों द्वारा, तथा दुष्ट तिर्यंचों द्वारा कोई उपद्रव हुआ हो या दुर्भिक्ष, महामारी, व्याधि आदि के कारण पीड़ा होने पर परिणामों में शिथिलता, संक्लेश तथा कायरता आ गई हो तो उन को यथायोग्य स्थान दे कर उन की क्षेम कुशल पूछना, आदर भक्ति करना, सिद्धान्त पूर्वक शिक्षा देकर उन का स्थितिकरण करना वैयावृत्य है।

जो समर्थ होते हुवे भी अपने बल वीर्य को छुपाकर वैया-

वृत्य नहीं करते, उससे कतराते हैं, जी चुराते हैं, वे धर्म रहित हैं, वे तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा को भंग करते हैं, केवली प्रणीत धर्म की विराधना करते हैं, आचरण बिगाड़ते हैं, प्रभावना को नष्ट करते हैं। जब धर्मात्मा का आपत्तिकाल में उपकार नहीं किया तो धर्म से विमुखता हो ही गई और श्रुत की आज्ञा का लोप भी हुवा ही हुवा। रोगी खेद खिन्न मुनि को देखकर जिनके परिणाम ऐसे होते हैं कि अहो! मोह अग्नि से दग्ध होते हुवे जगत में, यह दिगम्बर साधु अपने ज्ञानरूप जल से मोहरूपी अग्नि को बुझाय अपना आत्म-कल्याण कर रहे हैं। धन्य है इनको जो काम पिशाच को जीत, रागद्वेष को त्याग, इन्द्रियों को वशीभूत कर आत्महित की ओर उद्यमी हो रहे हैं, ये लोकोत्तर गुणों के धारक हैं। धन्य है इनको, इनको बारंबार नमस्कार होवे, मुझे ऐसे गुणवन्तों की चरण शरण प्राप्त होवे। ऐसे गुणों में परिणामों का लगना वैयावृत्य से ही होता है। ज्यों २ गुणों में परिणाम रचते हैं त्यों २ उनके प्रति श्रद्धान बढ़ता है, धर्म में प्रीति बढ़ती है और जब धर्म प्रेम बढ़ता है तो धर्म के नायक अरहन्तादि पंच परमेष्ठी के गुणों में अनुराग रूप भक्ति बढ़ती है। वह भक्ति कैसी होती है? वह भक्ति मायाचार रहित, मिथ्याज्ञान रहित, विषय भोगों की बांच्छा रहित, सुमेरु पर्वत के समान अकंप और निश्चल होती है। ऐसी जिन भक्ति जिस किसी के भी होती है उसके संसार परिभ्रमण का भय नहीं रहता। ऐसी भक्ति धर्मात्मा की वैयावृत्य के निमित्त से होती है। पंच महाव्रत संयुक्त कषाय रहित रागद्वेष के जीतने वाले, श्रुतज्ञान रूप रत्नों के निधान ऐसे पात्रों का लाभ वैयावृत्य करने वाले को ही हुवा करता है। जो रत्नत्रय धारी की वैयावृत्य करते हैं वे अपना सम्बन्ध रत्नत्रय से जोड़ते हैं, वे स्वयं तथा

औरों को भी मोक्ष मार्ग में स्थापित करने वाले होते हैं। कहा है "करे सेव ताकी करें देव सेवा"। जिसने आचार्य की वैयावृत्य की, उसने समझो सारे संघ की वैयावृत्य की, भगवान की आज्ञा पाली, अपने और पर के संयम की रक्षा की, शुभध्यान की वृद्धि की, इन्द्रिय और मन का निग्रह किया। रत्नत्रय की रक्षा और अतिशय रूप दान दिया, निर्विचिकित्सागुण को साक्षात् दिखाया, जिनेन्द्र के धर्म की प्रभावना की। वैयावृत्य अंतरंग और बहिरंग दोनों तपों में प्रधान है, कर्म की निर्जरा का प्रधान कारण है। धन खर्च कर देना तो सुलभ है, परन्तु रोगी की सेवा करना, टहल करना दुर्लभ है। प्रत्येक मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वह अपनी शक्त्यानुसार जगत के प्राणियों की सेवा करे छह काय के जीवों की रक्षा में सावधान रहे, जो दया धर्म का पालन करता है, अहिंसा का उपासक है उसके समस्त प्राणियों की वैयावृत्य होती है, ऐसा जान जो कोई भी श्रावक या साधु वैयावृत्य करता है, वह सर्वोत्कृष्ट निर्वाण पद को प्राप्त होता है।

"निशदिन वैयावृत्य करैया, सो निश्चय भव नीर तरैया"

अरहन्त भक्ति—मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक "जिन" (Conquror) ऐसे दो अक्षरों का सदैव स्मरण करना अरहन्त भक्ति है। अरहन्त भगवान् के गुणों में अनुराग का होना अरहन्त भक्ति है। जो जीव किसी पूर्व जन्ममें सोलह कारणभावनाओं को भाकर तीर्थंकर नामा कर्म प्रकृति का बन्ध करते हैं वे ही तीर्थंकर होकर अरहन्त होते हैं। तीर्थंकर प्रभु का पुण्य अतुल होता है। पहले तो तीर्थंकर प्रभु के अद्भुत पुण्योदय से गर्भ में आने से छह महीने पहले इन्द्र की आज्ञा से धनेन्द्र जिस राजा की राणी के गर्भ में प्रभु आते हैं, उसके नगर की शोभा करता

है, रत्नमयी सुवर्णमयी गगन चुम्बी महलकी रचना करता है, नगर के कोट, खाई, दरवाजे, सुन्दर २ बन उपवन बनाता है, सुन्दर २ भेष वाले पुरुष स्त्रियों को उस नगरी में बसाता है। नित्य प्रति राजमहल पर रत्नों की वृष्टि होती है। जब प्रभु गर्भमें आते हैं तो गर्भ के सूचक सोलह स्वप्न भगवान् की माता को आते हैं। रुचक द्वीप की रहने वाली देवियां भगवान् की माता की नित्य प्रति सेवा करती हैं। भगवान् गर्भमें स्फटिक मणिके पिटारे समान मलादि रहित माता के गर्भ में तिष्ठते हैं। नौ महीने पूर्ण हो जाने पर प्रभु का मति श्रुति अवधि इन तीन ज्ञानों तथा जन्म के दस अतिशय सहित जन्म होता है। जन्म होते ही तीन लोक में क्षोभ होता है, देवों के बिना बजाये बाजे बजते हैं, इन्द्रासन कंपायमान होता है, इससे इन्द्र प्रभु का जन्म हुआ जानकर स्वर्ग से मायामयी ऐरावत हाथी पर सवार हो आता है, सब चार प्रकार के देव देवांगनायें भी इकट्ठे होकर आते हैं, इन्द्राणी प्रभु की माता के पास गुप्त रीति से जाकर इस प्रकार कि प्रभु की माता को भी खबर न होने पावे, प्रभु को उठाकर ले आती है, इन्द्र हजार आंखें बनाकर प्रभु को देखता है, फिर भी प्रभु को देखते २ उसकी तृप्ति नहीं हो पाती उसके हर्ष का वारा-पार नहीं होता। पहले सौधर्म नाम स्वर्ग का इन्द्र प्रभु को अपनी गोद में ले ऐरावत हाथी पर चढ़ मेरु पर्वत की ओर चलता है। ईशान इन्द्र स्वामी के सिर पर छत्र रखता है। सनत् कुमार और महेन्द्र इन्द्र चमर ढारते हैं। मेरु पर्वत के पांडुक नाम बन के अन्दर पाण्डुक शिला के सिंहासन पर प्रभु को विराजमान करके सब देव देवांगनायें एक हजार आठ कलश क्षीर समुद्र के जल से भर प्रभु के मस्तक पर विनय और भक्ति पूर्वक ढारते हैं। देव देवांगना आनन्द के भरे गीत गाते हैं, नृत्य करते हैं, वादित्र

बजाते हैं, बड़े उत्साह के साथ जन्माभिषेक करते हैं. इसके पीछे इन्द्र प्रभुको वस्त्राभूषण पहना माताके राज्यमहलमें वापिस लेआता है और माताको सौंप देता है, इन्द्रादिक देव सब अपने २ स्थान को लौट जाते हैं। कुबेर प्रभु की सेवा में रहता है। प्रभु कुमार अवस्था तथा राज्य अवस्था भोगते हैं, फिर वैराग्य का कारण पा संसार तथा शरीर भोगों से विरक्त हो जाते हैं, लौकांतिक देव स्वर्ग से आ वैराग्य की पुष्टि करने वाली प्रभु की स्तुति करते हैं, प्रभु को वैराग्य में दृढ़ करते हैं, फिर इन्द्र आय तप कल्याणक के निमित्त प्रभु को पालकी में बिठा बड़े उत्सव के साथ बन में ले जाता है। वहां प्रभु समस्त वस्त्राभूषण का त्याग करते हैं। सिद्ध परमेष्टी को नमस्कार कर अपने हाथ से पंचमुष्टि लौंच अपने बालों का करते हैं, समस्त परिग्रह का त्याग कर अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत तथा परिग्रह त्याग महाव्रत को अंगीकार करते हैं। परम दिगम्बर रूप धारण कर अपनी शुद्धात्मा के ध्यान में लीन होते हैं। तत्काल चौथे मनः पर्यय ज्ञान की प्राप्ति स्वामी को हो जाती है, कर्मक्षय के निमित्त प्रभु तपश्चरण करते हैं, कुछ समय के बाद तप के प्रभाव से तथा शुक्ल ध्यान के बल से प्रभु क्षपक श्रेणी में चढ़ घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियों तथा अघातिया कर्मों की १६ प्रकृतियों को इस प्रकार कुल ६३ प्रकृतियों को सत्ता में से नाश कर केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य प्रभु की आत्मा में प्रगट होजाते हैं, प्रभु अरहन्त हो जाते हैं, केवल ज्ञान रूपी नेत्र के द्वारा भूत भविष्यत वर्तमान त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों की अनन्तानंत पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों को एक समय मात्र में युगपत (Simul tancusy) जानते और देखते हैं। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य

तथा अनन्त सुख नाम के अनन्त चतुष्टय के धनी प्रभु हो जाते हैं। प्रभु के क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, रोग, स्वेद, राग, द्वेष, मद, मोह, अरति, चिन्ता, भय, निद्रा, विषाद, खेद, विस्मय, इन अठारह दोषों का अभाव हो जाता है। प्रभु अरहन्त पद को प्राप्त होते हैं तब इन्द्र आदिक स्वर्गलोक से आकर भगवान् के उपदेश के निमित्त समवशरण की रचना करते हैं, समवशरण में आगमोक्त अनेक शोभासहित मणि स्वर्णमयी कोट, खाई, वेदी, चारों दिशाओं में चार दरवाजे, मानस्थम्भ, नाटयशाला, वन उपवन आदि अनेक रचना करता है। समवशरण के मध्य में सभा मण्डप में बारह सभायें होती हैं उनमें क्रमशः मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, देव. देवी, तिर्यंच बैठते हैं; स्वामी के अनेक अतिशय प्रगट होते हैं; सभा मंडपके बीच रत्नमयी तीन कटनी वाली गंध कुटी में सिंहासन के ऊपर चार अंगुल अंतरीक्ष प्रभु विराजमान होते हैं, प्रभु के अष्ट प्रातिहार्य होते हैं। प्रभु की वाणी खिरती है जिसे सुनकर चार ज्ञान के धारी गणधर द्वादशांग रूप शास्त्र की रचना करते हैं। प्रभु की विचित्र महिमा है जहां समवशरण की रचना होती है और भगवान् का विहार होता है अंधों को दीखने लग जाता है, बहरे सुनने लगते हैं, लूले चलने लग जाते हैं, गूंगे बोलने लग जाते हैं। वीतराग की महिमा अद्भुत है। स्वामी की मधुर दिव्य ध्वनि के सुनने मात्र से सब संशय नष्ट हो जाते हैं। सब जीव अपनी २ भाषा में उसको समझ लेते हैं, स्वर्ग तथा मोक्ष मार्ग को प्रगट दिखाने वाली है, इसकी महिमा को वचनों द्वारा कहने को गणधर इन्द्रादिक भी समर्थ नहीं हैं। प्रभु के समवशरण में सिंह और बकरी, व्याघ्र और गऊ, बिलाव और हंस इत्यादिक जाति विरोधी जीव भी बैर बुद्धि को छोड़ परस्पर मित्रता को प्राप्त

होते हैं ।

यद्यपि यह सब अद्भुत विभूतियें प्रभु के होती हैं, तथापि प्रभु को इनसे कोई राग नहीं होता, वे तो परम वीतरागी हैं। इन्द्र अपनी भक्ति से समवशरण आदि की रचना करता है, स्वामी को उससे कुछ प्रयोजन नहीं, प्रभु राग विहीन हैं। प्रभु के न कोई इच्छा है, न कोई परिग्रह है, न कोई चिंता, न भय न आशा है, वे परम सम भाव के धारक हैं। अपने ही शुद्ध चिदानन्द स्वरूप में स्थित हैं। उनके असीम पुण्य कर्मोदय से यह वहिरंग की सब विभूति है, वे तो इससे जुदा हैं। उनके आत्मारूपी समुद्र को रागद्वेष की कल्लोलें क्षोभित नहीं कर सकतीं। ऐसे अरहंत परमेष्टी की वन्दना करना, स्तवन करना, पूजन करना अर्हत भक्ति है। अर्हन्त भक्ति संसार समुद्र से पार करने वाली है। प्रभु की भक्ति से, उनके गुणानुवाद से उनके सर्व आत्मिक गुण बुद्धि के सामने आ उपस्थित होते हैं, उनका अमोघ शासन स्मरण में आजाता है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप ध्यान में आता है, स्मरण करने वाले भक्त के परिणाम पवित्र हो जाते हैं। पाप का नाश होता है, अन्तराय कर्म का बल घटता है। जितने अंशों में प्रशस्त राग होता है, शुभ कर्म का बन्ध होता है। स्वामी के ध्यान से कर्मों की निर्जरा होती है। अरहन्त भगवान् को भक्ति पूर्वक हृदय स्थल में धारण करने से जीवों के दृढ़ कर्म बन्धन इस प्रकार ढीले पड़ जाते हैं जैसे चंदन के वृक्ष से लिपटे हुवे सर्प मोर के आने से दूर भाग जाते हैं। ऐसा जान अरहंत भक्ति नाम की भावना को भावना परम कल्याणकारी है।

चौ०—परम पूज्य आतम अरहंत, अतुल अनन्त चतुष्टयवन्त ।
तिनकी श्रुति नुति पूजा भाव, दशम भावना भव जल नाव ॥

भावना करो—

जिने भक्ति जिने भक्ति जिने भक्ति सदास्तुमे।
सम्यक्त मेव संसार वारणं मोक्ष कारणम्॥

आचार्य भक्ति—आचार्य भक्ति है सोही गुरु भक्ति है। धन्य भाग हैं उनके जिनके हृदय में वीतराग गुरु के गुणों के प्रति अनुराग होता है, धन्य हैं वे पुरुष जो विनय, भक्ति तथा आदर के साथ गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं। आचार्य अनेक गुणों की खान होते हैं, श्रेष्ठ तप के करने वाले होते हैं। अनशनादि बारह प्रकार के उज्ज्वल तप को करने में निरन्तर उद्यमी रहते हैं, छह आवश्यक क्रियाओं के पालन में सदैव सावधान रहते हैं, पंचाचार के धारक होते हैं। जिनकी परणति दशलक्षण धर्म रूप होती है, जो मन, वचन, काय की गुप्ति सहित हैं—ऐसे ३६ गुण युक्त आचार्य होते हैं। सम्यक् दर्शनाचार को निर्दोष धारण करते हैं, जिनके सम्यक्ज्ञान की शुद्धता होती है तेरह प्रकार के चारित्र की शुद्धता होती है तपश्चरण में उत्साह होता है। बड़े उत्साह के साथ अपने वीर्य अर्थात् शक्ति को न छिपाकर बाईस परीषह को जीतने में समर्थ होते हैं। अन्तरंग तथा बहिरंग के परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मार्ग पर चलने के लिये सदैव तत्पर होते हैं। उपवास, बेला, तेला, पंचोपवास, पक्षोपवास, मासोपवास करने में तत्पर रहते हैं। जो निर्जन वन में पर्वतों के दरारों तथा गुफाओं में रह निश्चल शुभ ध्यान में अपने चित्त को लगाते हैं और शिष्यों की योग्यता को खूब अच्छी तरह से जांच भाल कर दीक्षा देने में तथा शिक्षा देने में निपुण होते हैं। जो नय और प्रमाण के ज्ञाता होते हैं, जिनको अपने शरीर से भी ममत्व नहीं है, जो संसार कूप में पड़ने से सदैव भयभीत रहते हैं, जो मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक दृष्टि को नासिका की अणी पर जमा ध्यानस्थ होते हैं,

वे ही आचार्य पूजनीक हैं, उन्हीं की वन्दना करना योग्य है। आचार्य महाराज समस्त संघ के शासक (Administrator General) होते हैं, वे धर्म के नायक होते हैं, उनके आधार समस्त धर्म होता है । इसलिये आचार्य महाराज उत्तम महान् श्रेष्ठ कुल के होते हैं, उनकी आकृति ऐसी साफ होती है कि जिसे देख देखने वालों के परिणाम शांत हो जाते हैं, जिनका उच्च आचरण जगत में प्रसिद्ध हो, जिन्होंने पहले भी कभी गृहस्थाचार में भी कोई हीनाचार तथा निंद्य व्यवहार न किया हो और जो वर्त्तमान में भी भोग सम्पदा को त्याग कर उदासीनता को प्राप्त हुवा हो; जो समस्त लौकिक तथा पारमार्थिक व्यवहार का ज्ञाता हो, जिनमें बुद्धि और तपश्चरण दोनों की प्रबलता हो; जिस तप को दूसरे सहज में धारण न कर सकें उस तप को धारण करने की उनमें शक्ति हो। जो बहुत दिनों के दीक्षित हों जिन्होंने बहुत दिनों तक गुरु चरणों की भक्ति पूर्वक सेवा की हो। जिनके वचन अतिशय युक्त हों, जिनके वचन सुनते ही श्रोतागण की शंकाओं का अभाव होजावे, और धर्म में दृढ़ता होजावे; जिन के संसार तथा शरीर भोगों से दृढ़ विरक्तता हो, जो सिद्धान्त सूत्रों के अर्थ में पारगामी हों। इन्द्रियों को दमन कर इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी भोग विलास की इच्छा से रहित हो, महाधीर गम्भीर हो; उपसर्ग तथा परीषह के समय में जिनका चित्त कभी चलायमान न होने पावे, (क्योंकि जब आचार्य ही डिग जावें तो सारा संघ भ्रष्ट हो जाता है और धर्म का लोप हो जाता है), जो समस्त अन्य मतों का जानने वाला हो; अनेकान्त में क्रीडा करने वाला हो; दूसरों के प्रश्नों का निर्भीकता के साथ तत्काल उत्तर देने वाला; एकान्त मत का खंडन कर सत्यार्थ धर्म को स्थापन करने में समर्थ हो; धर्म की प्रभावना करने में उत्सुक हो; गुरु के पास रह प्राय-

शित सूत्र को जिन्होंने खूब अच्छी तरह पढ़ा और समझा हो, जो ऊपर बताये ३६ गुणों के धारक होवें, जो सारे संघ की साक्षी से गुरु द्वारा दिये गये आचार्य पद को प्राप्त हों, जिनमें ऐसे गुण पाये जावें वे ही आचार्य हैं। ऐसे गुणों के बिना यदि आचार्य हों तो धर्म मार्ग का लोप हो जावे, उन्मार्ग की प्रवृत्ति हो जावे, समस्त संघ स्वेच्छाचारी तथा उद्दंड हो जावे, सूत्र की परिपाटी तथा आचार की परिपाटी शिथिल और भ्रष्ट होजावे।

आचार्य में नीचे लिखे अष्ट गुण होने जरूरी हैं —

(१) **आचारवान**—जो पंच प्रकार का आचरण निर्दोष धारण करें वे आचारवान कहलाते हैं। पांच प्रकार के आचार ऐसे हैं—

(क) वीतराग, सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित जीवादिक तत्वों में निर्मल तथा निश्चल श्रद्धा रूप प्रवृत्ति होना दर्शनाचार है।

(ख) स्व पर तत्व को निर्बाध आगम तथा आत्मानुभव द्वारा जानने रूप प्रवृत्ति का होना ज्ञानाचार है।

(ग) हिंसा असत्य आदि पंच पापों के अभावरूप प्रवृत्ति का होना चारित्राचार है।

(घ) अन्तरंग तप में प्रवृत्ति होना तपाचार है।

(ङ) उपसर्ग तथा परीषह आदि के उपस्थित होने पर अपनी शक्ति को न छिपाकर धीरता रूप प्रवृत्ति का होना वीर्याचार है।

आचार्य महाराज इस पंच प्रकार चारित्र को स्वयम् निर्दोष पालन करते हैं, अपने अन्य शिष्यों से पालन कराते हैं। यदि आचार्य आप हीनाचारी होवें तो वे शिष्यों से आचरण का पालन नहीं करा सकते, शुद्ध उपदेश दे नहीं सकते। जो हीनाचारी होता है, वह कई प्रकार से संघ की धार्मिक प्रवृत्ति में शिथिलता पैदा कर

सकता है इसलिये आचार्य का आचारवान होना जरूरी है।

(२) **आधारवान**—जो जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित अनुयोगों का आधार हो, स्याद्वाद विद्या में पारगामी हो; शब्द विद्या, न्याय विद्या, सिद्धान्त विद्या में पारंगत हो; जिसने प्रमाण, नय. निक्षेप द्वारा तथा स्वानुभव द्वारा भले प्रकार तत्वों का निर्णय किया हो; वह आधारवान है। जिसके श्रुतज्ञान का आधार न हो वह शिष्यों का समाधान कैसे कर सकता है? एकान्त रूप हठ और मिथ्याचरण का निराकरण कैसे कर सकता है? आधारवान आचार्य ही अपने संघ के मुनियों को, अनेक कष्ट-मय, आपत्तियों के उपस्थित होजाने पर धर्म मार्ग से च्युत होने से तथा परिणामों को संक्लेशित करने से बचाते हैं और अपने धर्मोपदेश रूप अमृत का पान करा उनको सम्बोधते हैं; अन्य अनेक परीषह विजयी तथा घोर उपसर्ग के उपस्थित होजाने पर धर्म मार्ग में दृढ़ रहने वाले तपस्वी साधुओं के उदाहरण दे देकर उनको मार्ग से चलायमान नहीं होने देते, बल्कि उनको मार्ग में स्थिर रखते हैं। यदि आचार्य आधार-वान न हों तो संघ में शिथिलता बढ़ जाती है। धर्म का घात होता है इसलिये आचार्य का आधारवान होना निहायत जरूरी है।

(३) **व्यवहारवान्**—आचार्य के लिये जरूरी है कि वह व्यवहार प्रायश्चित सूत्र के जानने वाले हों, जो आचार्य बनने के योग्य हों, प्रायश्चित सूत्र उन ही को पढ़ाया जाता है, औरों को पढ़ना योग्य नहीं। जो जिनागम का ज्ञाता हो, महा धैर्यवान हो, प्रबल बुद्धि का धारक हो, वही प्रायश्चित दे सकता है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, क्रिया, परिणाम, उत्साह, संहनन, पर्याय, दीक्षा का काल, शास्त्रज्ञान तथा बल और पुरुषार्थ

आदि को भली भांति जानते हैं, समझते हैं, जिनमें हर पहलू से शिष्यों की जांच पड़ताल करने की योग्यता और दक्षता है वे ही प्रायश्चित देने के अधिकारी आचार्य होते हैं. जिनमें ऐसी योग्यता या गुण पाये जाते हैं गुरुवर उन्हीं को प्रायश्चित सूत्र पढ़ाकर आचार्य पद देते हैं। जो कुलीन हों, व्यवहार परमार्थ के ज्ञाता हों, किसी समय भी जिसने अपने मूल गुणों में कोई अतिचार न लगाया हो, जो चारों अनुयोग रूपी समुद्र का पारगामी हो, धैर्यवान् हो, परीषह विजयी हो, देव कृत उपसर्ग में भी चलायमान न होवे, वक्तापने की शक्ति का धारक हो, वादी प्रतिवादियों के जीतने में समर्थ हो, विषय भोगों से अत्यन्त उदासीन हो; बहुत दिन गुरुकुल सेया होवे, सर्व संघ द्वारा मान्य होवे, समस्त संघ ही जिसके आचार्य बनने की योग्यता से पहले से ही भलीभांति परिचित हो, गुरु द्वारा दिये गये प्रायश्चित सूत्र का ज्ञाता हो, वही आचार्य पद को प्राप्त कर प्रायश्चित देने का अधिकारी होता है। जो आचार्य गुण विहीन होते हैं, व्यवहार सूत्र के ज्ञान से रहित होते हैं वह संघ को भ्रष्ट ही कर देते हैं जैसे कि एक मूढ वैद्य देश, काल, रोगी की प्रकृति आदि का विचार किये बिना ही, अथवा बिना जाने ही कोई यों ही अटकल पच्चू दवाई देकर उस रोगी को मार डालता है। इसलिये आचार्य महाराज के लिये व्यवहारवान् होना भी बड़ा जरूरी है।

(४) **प्रकर्त्ता**—संघ में कोई रोगी हो, बूढ़ा हो, अशक्त हो, कोई बाल हो, किसी ने सन्यास धारण किया हो तो जो मुनि खास तौर से उनकी सेवा के लिये नियत किये जावें वे तो इनकी सेवा करें ही करें ऐसा करना उनका तो कर्तव्य ही है; परन्तु स्वयं संघ के आचार्य भी निर्बल अशक्त मुनियों का उठावना,

बैठाना, शयन करावना, करवट बदलना, मलमूत्र, कफ तथा खून आदि का शरीर से दूर करना, धोना, साफ करना, प्राशुक भूमि में उस मलमूत्रादि को डालना सब अपने हाथ से करते हैं, धर्मोपदेश कर उनको धर्म ग्रहण करा धर्म में दृढ़ रखते हैं। इत्यादिक आदर पूर्वक भक्ति भाव से स्वयं आचार्य महाराज को वैयावृत्य करते देख समस्त संघ के मुनि प्रभावित होते हैं, और वैयावृत्य के लिये सावधान हो विचार करते हैं, धन्य हैं यह आचार्य परमेष्ठी, गुरुदेव करुणा निधान जिनके दिल में धर्मात्माओं के प्रति ऐसा वात्सल्य है। हम महानिंद्य हैं आलसी हो रहे हैं, हमारे होते हुवे श्री आचार्य महाराज सेवा करें, यह हमारा प्रमाद है, धिक्कार हो इस प्रमाद को और हम प्रमादियों को, यह प्रमाद बन्ध का कारण है। ऐसा विचार समस्त संघ वैयावृत्य के लिये तैयार हो उद्यम करता है। यदि आचार्य आप प्रवादी हों तो सारा संघ वात्सल्य रहित होजावे। इसलिये आचार्य में कर्तृत्व गुण का होना भी निहायत जरूरी है। जिसमें सारे संघ की वैयावृत्य करने की समर्थ हो वही आचार्य होता है। संघ में कोई हीनाचारी हो तो उसको शुद्ध, आचरण ग्रहण करावें, कोई मन्द ज्ञानी हों तो उन्हें समझा बुझाकर चारित्र में लगावें, जिनसे कोई दोष बन आया हो, जिनके चारित्र में शिथिलता नजर पड़ती हो तो उनको यथायोग्य प्रायश्चित देकर उनको शुद्ध करें, धर्मोपदेश देकर दृढ़ करें। यह सब ऐसे वात्सल्य भाव से करें कि अनायास वे मुनि स्वयं अपने मुख से कहने लगें "धन्य हैं आचार्य महाराज जिनकी शरण प्राप्त होगई, जो इनकी शरण ग्रहण करता है, उसीको मोक्षमार्ग में लगा उसका परमोद्धार करते हैं।" इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी का प्रकर्त्ता गुण प्रधान है।

(५) अपायोपाय विदर्शी—किसी साधु के भूख प्यास रोग आदि की वेदना से पीड़ित हो संक्लेशित परिणाम रूप होजाने पर, या उसके तीव्र रागद्वेष के होजाने पर, या मारे लज्जा के अथवा भय के यथावत् आलोचना न करने पर, या रत्नत्रय में उत्साह रहित होजाने पर, धर्म से शिथिल होजाने पर उसको अपायमान रत्नत्रय के नाश और उपाय रत्नत्रय की रक्षा के साक्षात् गुण दोष ऐसे ढंग से दिखावे कि वह रत्नत्रय का नाश होने से कम्पायमान होजावे, रत्नत्रय के नाश को अपना नाश समझे, रत्नत्रय के विनाश को साक्षात् नरकादि कुगति में पतन का कारण जान लेवे और रत्नत्रय की रक्षा में अपना परम कल्याण मानने लगे। अपने उपदेश द्वारा रत्नत्रय से भ्रष्ट होजाने। दोप और रत्नत्रय के धारण करने के गुणों को साक्षात् दर्शा देने की समर्थ जिन आचार्य में हो वे ही अपायोपाय विदर्शी गुण के धारक होते हैं।

(६) अवपीड़क- यदि कोई साधु अपने दोषों की आलोचना मारे भय के या लज्जा के या किसी हानि के कारण यथावत शुद्ध न करे तो आचार्य वर यथावसर प्रेम भरे शब्दों द्वारों समझा कर, या कठोर शब्दों द्वारा धमका कर उसके मायाचार को उगलवा देवें, और उसके दोषों को दूर करने के हेतु से तथा उसको शुद्ध मार्ग पर दृढ़ करने के खयाल से उससे शुद्ध आलोचना करवावें। ऐसी शक्ति उन्हीं आचार्य में होती है बलवान् हों, निर्भीक हों, प्रतापवान् हों, जिनके वचन को उल्लंघन करने की ताब कोई न ला सके, जो ऐसे प्रभावशाली हों कि जिनके देखने मात्र से ही दोषी साधु थर थर कांपने लग जाये, बड़े २ विद्या के धारक भी नम्रीभूत हो

जिनकी वन्दना करने लग जावें; जिनकी उज्ज्वल कीर्ति इतनी विख्यात हो कि उनकी कीर्ति को सुनते ही उनके गुणों में दृढ़ श्रद्धा होजावे; जिनके वचनों को, बिना उनके देखे ही, दूर देशान्तरों में प्रमाणीक माना जावे, जो सिंह के समान निर्भय हो, जो जैसे शिष्य का हित होता दिखाई देवे वैसे वैसा ही उपकार करें; जैसे बालक की सच्ची हितैषी माता बालक का हित चिन्तवन कर बालक के रुदन करते हुवे भी, बालक को दबाकर उसका मुख फाड़कर जबरदस्ती दुग्ध पान कराती है, ठीक वैसे ही आचार्य वर माया शल्य सहित साधु के दोषों को, उसके अपने कल्याण के निमित्त, जबरदस्ती के साथ दूर कराते है। कड़वी दवा खाते समय तो अरुचिकर होती है परन्तु वह रोग को समूल नष्ट कर डालती है और रोगी को स्वस्थ बना देती है, वैसे ही गुरुवर के कठोर शब्द यद्यपि शुरू में दोषी मुनि को बुरे लगते हैं, परन्तु वे उसके दोषों को दूर कर उसका कल्याण करते हैं। जो गुरु बोलने में तो मीठे हों, परन्तु दोषों को छुड़ावें नहीं, वह अच्छे नहीं; वह गुरु जो ताड़ना पूर्वक शिष्य के दोषों को छुड़ा उसके चारित्र को निर्मल तथा उज्ज्वल बनाते हैं, वे पूजने योग्य हैं। इसी कारण आचार्य में अवपीड़क गुणका होना भी परमावश्यक है।

(७) अपर श्रावी—शिष्य गुरु को अपना हितैषी जान अपने दोषों की आलोचना उनके समक्ष करते हैं, उनको गुरुवर में पूर्ण विश्वास होता है; गुरुवर उनके दोषों को सुन, उन दोषों को दूसरों पर प्रगट नहीं करते, जैसे तप्तायमान लोहे का गोला पानी में डाले जाने पर पानी को सोख लेता है वैसे ही गुरुवर अपने शिष्यों के लगे हुवे दोषों को सुनकर किसी दूसरे को नहीं कहते हवा तक नहीं लगने देते। यदि वे ऐसा

करें तो विश्वासघाती होजावें, उनकी निंदा होवे और संघ की उनमें से श्रद्धा और प्रतीति उठ जावे, संघ उनको छोड़ देवे इत्यादि अनेक दोष आ खड़े होवें, इसलिये अपरश्रावी गुण का धारक ही आचार्य योग्य है।

(८) **निर्यापक**—जैसे एक हुशियार मार्ग को जानने वाला उतार चढ़ावों के भेद को समझने वाला खेवटिया नाव को समस्त उपद्रवों से बचाकर नाव को पार उतार कर ले जाता है, वैसे ही आचार्य वर भी शिष्यों को अनेक विघ्न बाधाओं से बचा संसार समुद्र से पार करने वाले होते हैं उनकी जिम्मेवारी बहुत होती है।

ऐसे उपर्युक्त अष्ट गुणों के धारक आचार्य महाराज के गुणों में अनुराग होना आचार्य भक्ति है, जो आचार्य भक्ति करते हैं उनके आचार विचार शुद्ध होते हैं, परम्परा से वे पापरूप संसार भ्रमण की परिपाटी को नष्ट कर मोक्ष के अक्षय सुख को प्राप्त होते हैं। कहा है—

जो आचारज भक्ति करैं हैं, सो निर्मल आचार धरैं हैं।

इसलिये चारित्र की शुद्धि के लिये भावना करो—

गुरौ भक्तिः गुरौ भक्तिः गुरौ भक्तिः सदास्तुमे।
चारित्र मेव संसार वारणं मोक्ष कारणं॥

बहुश्रुतवंत भक्ति—जो विद्वान् मुनि संघ में पठन पाठन का कार्य करते हैं, उपाध्याय कहलाते हैं। उपाध्याय महाराज की भक्ति करना ही बहुश्रुतवंत भक्ति है। जो बारह अङ्ग और चौदह पूर्व के ज्ञाता होते हैं; चार अनुयोगों (प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग) के पारगामी होते हैं, जो सदैव आप परमागम को पढ़ते हैं तथा शिष्यों को पढ़ाते

हैं, वे बहुश्रुतवन्त कहलाते हैं। जिनके श्रुतज्ञान ही दिव्य नेत्र हैं, जो अपना और पर के हित करने में लगे रहते हैं, अपने जैन सिद्धान्त तथा दूसरे एकान्त सिद्धान्तों को भी विस्तार पूर्वक जानते हैं, स्याद्वाद रूप परम विद्या के धारक हैं, जिनके द्वारा सदैव श्रुतज्ञान का दान होता रहता है, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी ही बहुश्रुती हैं, उनकी भक्ति विनय पूर्वक करना बहुश्रुतवन्त भक्ति है।

श्रुतज्ञान के स्थूल रूप से दो भेद हैं, अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य।

(१) अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञान के १२ भेद हैं—

१. आचारांग, २. सूत्र कृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्या प्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृ धर्म कथांग, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तकृत दशांग, ९. अनुत्तरोपपादक दशांग, १०. प्रश्न व्याकरणांग, ११. विपाक सूत्रांग, १२. दृष्टिवाद अंग। इस दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग के पांच भेद हैं— परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका। अब इनमें से भी पूर्व नाम के चौथे भेद के चौदह और भेद हैं— उत्पाद पूर्व, अग्रायणी पूर्व, वीर्यानुवाद पूर्व, अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व, ज्ञान प्रवाद पूर्व, सत्य प्रवाद पूर्व, आत्म प्रवाद पूर्व, कर्म प्रवाद पूर्व, प्रत्याख्यान पूर्व, विद्यानुवाद पूर्व, कल्याणानुवाद पूर्व, प्राण प्रवाद पूर्व, क्रिया विशाल पूर्व, त्रैलोक्य बिन्दुसार पूर्व।

(२) अङ्ग बाह्य श्रुतज्ञान के भी चौदह भेद हैं जिनको प्रकीर्णक कहते हैं, वह ये हैं—सामायिक, स्तवन, प्रतिक्रमण, विनय, कृत कर्म, वैकालिक, उत्तराध्ययन, व्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, निषिद्धिका। (विशेष के

लिये देखो गोमट्टसार, जिसमें इस विषय का पूर्ण रूपसे exact और mathematical वर्णन दिया हुवा है। इन उपर्युक्त द्वादशांग रूप सूत्र का ज्ञान तप के बल से होता है, जो मुनि इनको आप पढ़ते हैं, और शिष्यों को उनकी बुद्धि की योग्यतानुसार पढ़ाते हैं, उनकी भक्ति बहुश्रुत भक्ति है। गुणों में अनुराग होने को भक्ति कहते हैं। जो शास्त्रों को भक्ति पूर्वक पढ़ें, दूसरों को पढ़ावें, सुनावें, उनका अर्थ समझावें, अपना धन खर्च करके शास्त्रों को लिखवावें, उनका उद्धार करावें, उनका प्रचार करावें, अपने हाथ से शास्त्र लिखें, तथा शास्त्रों का संशोधन करें करावें, पढ़ने वालों के लिये शास्त्रों का प्रबन्ध करें, करावें, शास्त्रों की व्याख्या करें, शास्त्र पढ़ने वालों तथा बांचने वालों की आजीविका की स्थिरता करके शास्त्रों के ज्ञानाभ्यास की प्रवृत्ति को चालू रखें, स्वाध्याय अथवा पठन पाठन के लिये अच्छा निराकुल स्थान बनाकर देवें। जीर्ण शीर्ण शास्त्रों की नक़ल करावें, ज्यों त्यों करके उनका उद्धार करावें, उनको सुरक्षित रखें, यह सब श्रुत भक्ति है। श्री उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना बहुश्रुतवंत भक्ति है। यह श्रुत भक्ति संशयादि से रहित सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कराय परंपरा से केवल ज्ञान की प्राप्ति कराने में समर्थ है। जो पुरुष अपने को इन्द्रिय विषयों से विमुख कर बारम्बार श्रुत देवता के गुणों का स्मरण करते हैं, विनय करते हैं, उपासना करते हैं, वे समस्त श्रुत ज्ञान के पारगामी हो केवल ज्ञान प्राप्त कर निर्वाणपद को प्राप्त होते हैं, इसलिये भावना करो—

श्रुतेभक्ति श्रुतेभक्ति श्रुतेभक्ति सदास्तुमे,
सद्ज्ञान मेव संसार वारणं मोक्ष कारणं।

द्यानतराय जी ने भी कहा है :—

बहुश्रुतिवंत भगति जे करहिं, सो नर सम्पूरण श्रुत धरहि।

प्रवचन भक्तिः—श्री सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्रतिपादित परमागम को योग्यकाल में बड़ी विनय के साथ पढ़ना प्रवचन भक्ति है। सम्यक् ज्ञान की आराधना प्रवचन भक्ति है। सम्यक् ज्ञान ही जीव का परमबांधव है, उत्कृष्ट धन है, परम मित्र है। जैसे एक अंधेरे महल के अन्दर दीपक हाथ में लेकर समस्त पदार्थों को देखते हैं, वैसे ही तीन लोक रूपी महल के अन्दर प्रवचन रूप दीपक के द्वारा सूक्ष्म, स्थूल मूर्त्तिक तथा अमूर्त्तिक पदार्थों को देखा जाता है। प्रवचनरूप नेत्र के द्वारा ही तो मुनीश्वर चेतन अचेतन समस्त पदार्थों का अवलोकन किया करते हैं।

प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, तथा द्रव्यानुयोग इन चारों अनुयोग सम्बन्धी कितने ही ग्रन्थ हैं उनको बड़ी भक्ति से पढ़ना, सुनना तथा व्याख्यान करना, वन्दना करना, लिखना लिखाना, शोधना, सब प्रवचन भक्ति है। इस भावना का भावने वाला विचारता है कि शास्त्राभ्यास बिना मेरा जो दिन गुजरता है वह व्यर्थ है, वह दिन मेरे लिये धन्य है जो शास्त्राभ्यास में बीतें। परमागम के अभ्यास बिना शुभ ध्यान नहीं बन आता, स्वाध्याय बिना पाप से निवृत्ति नहीं हो पाती, कषाय की मन्दता नहीं होती, परमागम के स्वाध्याय बिना शरीर और भोगों से विरागता नहीं आती, व्यवहार की सारी उज्वलता परमार्थ का विचार आगम की सेवा से ही होता है। जिनवाणी की सेवा से जगत में मान्यता होती है, उच्चता, उज्वलयश तथा आदर सत्कार की प्राप्ति होती है। वास्तव में सम्यक् ज्ञान ही एक अविनाशी धन है। स्वदेश में, परदेश में, सुख में, दुख में, आपदा में, संपदा में

सम्यक् ज्ञान ही परम शरण भूत है। सम्यक् ज्ञान ही एक स्वाधीन अविनाशी धन है। इसलिये शास्त्रों का पठन पाठन भक्ति पूर्वक मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक निरन्तर करो, अपने आप को नित प्रति ज्ञान दान दो, अपनी सन्तान तथा शिष्यों को ज्ञान दान दो। करोड़ों रुपयों का दान भी ज्ञान दान के समान नहीं है। धन तो मद पैदा करता है, मनुष्य को विषयों में उलझाकर दुर्ध्यान करता है और संसार रूप अन्ध कुंए में पटकने का कारण होता है। ज्ञान दान बराबर दान नहीं। एक श्लोक, दो श्लोक तथा एक पद मात्रा का भी यदि नित्य अभ्यास किया जावे तो करते २ एक अज्ञानी पुरुष शास्त्रों का पारगामी हो जाता है। विद्या परम देवता है, जो माता पिता अपनी सन्तान को ज्ञानाभ्यास कराते हैं वह धन न देते हुवे भी करोड़ों का धन उनको देते हैं। सम्यक् ज्ञान के दाता गुरु के समान उपकार करने वाला इस जीव का कोई और उपकारक संसार में नहीं है, जो ज्ञान देने वाले गुरु का नाम छिपाते हैं तथा उनके किये उपकार को भुलाते हैं उनके बराबर कोई और कृतघ्नी या पापी नहीं। ज्ञान के अभ्यास बिना मनुष्य व्यवहार और परमार्थ दोनों में मूढ़ रहता है। प्रवचन के सेवन बिना मनुष्य पशु के समान है; इस प्रकार प्रवचन भक्ति परम कल्याण रूप है अनेक दोषों का नाश करने वाली है. इससे सम्यक् दर्शन की उज्वलता होती है और ज्ञान की निर्मलता और वृद्धि होती है। इसलिये नित्य प्रति इसकी आराधना करो। कहा है :—

प्रवचन भगति करें जे ज्ञाता लहैं ज्ञान परमानन्द दाता।

आवश्यका परिहाणि भावना—अवश्य करने योग्य क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। जो इन्द्रियों के वश में नहीं हैं उन्हें अवश्य कहते हैं, साधु महाराज अर्थात् मुनिराज इन्द्रिय विजयी होते हैं, वे इन्द्रियों के वश में नहीं होते इसलिये उन

की जो क्रिया हैं उनको आवश्यक कहते हैं, आवश्यक कर्म की हानि नहीं करना आवश्यका परिहाणि कहलाता है। मुनियों के छह आवश्यक और श्रावकों के छह आवश्यक जुदा २ हैं। पहले मुनियों के छह आवश्यकों का संक्षेप से वर्णन करते हैं :—

(अ) सामायिक—सुन्दर असुन्दर वस्तु में, शुभ अशुभ कर्म के उदय में राग द्वेष नहीं करना, आहार वस्तिकादि के लाभ अलाभ में सम भाव रखना, स्तुति निन्दामें, आदर अनादर में, रत्न और पत्थर में, जीवन मरण में, शत्रु मित्र में, सुख दुख में, महल और श्मशान में रागद्वेष रहित परिणामों का होना समभाव है। जो साम्यभाव के धारण करने वाले हैं वे पुद्गल को अचेतन अपने से सर्वथा भिन्न तथा अपने आत्मस्वभाव में हानि वृद्धि के अकर्त्ता जान रागद्वेष का त्याग करते हैं और अपने को शुद्ध दृष्टा ज्ञाता रूप अनुभव करते हुवे राग द्वेष से रहित हो निज स्वभाव में तिष्ठते हैं उनके साम्यभाव होता है और यही सामायिक है। दूसरे शब्दों में यूं कह लीजिये कि राग द्वेष से रहित हो अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा में स्थित होने का नाम सामायिक है।

(आ) स्तवन—जिनेन्द्र भगवान के नाम अनेक हैं, अनेक नामों द्वारा उनका स्तवन करना, गुणगान करना स्तवन है। सहस्रनाम पाठ पढ़कर भगवान् के गुणों का स्मरण करना, अपने परिणामों में भक्ति पूर्वक चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन करना स्तवन नाम का आवश्यक है।

(इ) वन्दना – चौबीस तीर्थंकरों में से किन्हीं एक को मुख्य करके तथा अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्व साधु पंच परमेष्ठी में से किन्हीं एक को मुख्य करके स्तुति करना वन्दना आवश्यक है।

(३) प्रतिक्रमण—भूतकाल में किये हुवे पापों की निन्दा करना प्रतिक्रमण है। प्रमाद के वशीभूत हो मन वचन काय के द्वारा जो भी पाप कर्म हुवे हैं वे सब मिथ्या होवें। पंच परमेष्ठी के प्रताप से हमारे पापरूप परिणाम कभी न होने पावें इत्यादि भावना करना। अपने पाप परिणामों की निन्दा करना और भावों की शुद्धि के निमित्त कायोत्सर्ग पूर्वक पंच नमस्कार मन्त्र का नौ बार जाप देना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के सात भेद हैं :—

दैवसिक प्रतिक्रमण—अपनी दिन भर की समस्त प्रवृत्ति का संध्या समय में चिन्तवन करना और मन वचन, काय द्वारा लगे समस्त पापों की निंदा गर्हा करना।

रात्रिक प्रतिक्रमण—रात्रि सम्बन्धी समस्त पापों को दूर करने के लिये प्रातःकाल प्रतिक्रमण करना।

ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण—मार्ग में चलने में जो दोष लगें उनकी शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करना।

पाक्षिक प्रतिक्रमण—एक पक्ष में लगे दोषों का निराकरण करने के लिये प्रतिक्रमण करना।

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—चार महीने में लगे दोषों का प्रतिक्रमण करना।

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण—वर्ष भर के समस्त दोषों का प्रतिक्रमण करना।

उत्तमार्थ प्रतिक्रमण—आयु के अन्त में सन्यास मरण धारण करने से पहले वर्तमान पर्याय सम्बन्धी समस्त दोषों का निराकरण करने के लिये प्रतिक्रमण करना।

ऐसे यह प्रतिक्रमण के सात भेद जानने चाहियें। जैसे एक

साधारण दुकानदार सबेरे शाम अपनी रोकड़ के आंकड़े को देखता है संभालता है, वैसे ही एक सद्ग्रहस्थ को भी सबेरे और शाम अपने नफे टोटे का हिसाब जरूर देख लेना चाहिये। कितना पुण्य किया, कितना पाप। अपने सारे समय का हिसाब जोड़े, विचार करे कि इस मनुष्य जन्म की एक एक घड़ी बड़ी कीमती है, एक घड़ी भी व्यर्थ खो देने के बाद किरोड़ों रुपया खर्च कर देने से भी वापिस नहीं आ सकती। देखे कि आज मैंने इष्ट देव के पूजन में, स्तवन में, कितना समय लगाया। स्वाध्याय में, धर्म चर्चा में कितना समय लगाया। कितना समय साधु सन्तों की वैय्यावृत्य में खर्च किया, कितना समय परोपकार में दिया। घर सम्बन्धी कार्यों में कितना समय लगाया। विकथा में, व्यर्थ के विसंवाद में, भोजनादि में, इन्द्रियों के विषयों में, प्रमोद में, शरीर के संस्कारों में तथा हिंसादि पंच पापों में कितना समय लगाया। यदि पाप रूप प्रवृत्ति ज्यादह रही हुई हो तो उसके लिये अपने को धिक्कारना। पाप प्रवृत्ति को अधिकाधिक घटा कर अपने को धर्म कार्यों में लगाना प्रतिक्रमण एक बड़ी आवश्यक क्रिया है। आत्मा के हिता-हित के विचार में निरन्तर उद्यमी रहना चाहिये, प्रतिक्रमण आत्मा को सदा सावधान रखने वाला है, इससे पूर्व बंध किये हुवे कर्मों की निर्जरा होती है। नाम, स्थापना आदि की अपेक्षा प्रतिक्रमण के और भी भेदानुभेद हैं।

प्रत्याख्यान—आगामी काल में अपनी आत्मा की ओर कर्मों का आस्रव न होने पावे, इस ख्याल से पाप क्रियाओं का त्याग करना और धारणा करना कि मैं अब आगे इन पापों को कभी नहीं करूंगा प्रत्याख्यान आवश्यक सुगति का कारण है।

कायोत्सर्ग—दोनों पावों में चार अंगुल का फासला रख सीधे खड़ा होना, दोनों हाथों को नीचे लम्बा छोड़ शरीर से

ममत्व भाव को दूर कर, दृष्टि को नासिका के अगले भाग में जमा, शरीर को निज से सर्वथा भिन्न चितवन करते हुवे अपने शुद्ध चिदानंदरूप आत्मा की भावना करना कायोत्सर्ग है। निश्चय कायोत्सर्ग पद्मासन तथा खड्गासन दोनों से हो सकता है, परन्तु दोनों में ही सफलता का कारण शुद्ध ध्यान का अवलम्बन ही है उसके बिना यह सब बाहरी क्रिया थोथी है।

इस प्रकार यह मुनियों के षट् आवश्यक कहे। नाम, स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इन छहों के और भी भेद हैं वह बड़े ग्रन्थ से जानने चाहियें। अब आगे श्रावकों के षट् आवश्यक बताते हैं।

देवपूजा गुरू पास्ति स्वाध्याय संयमस्तपः,
दानं चैव गृहस्थानाम् षट् कर्माणि दिने दिने।

देव पूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान यह छह दैनिक कर्म गृहस्थियों को नित्य प्रति करने चाहियें।

देव पूजा—जिनेन्द्र भगवान् का नित्य प्रति पूजन करना।

गुरु भक्ति—निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा करना, वैयावृत्य करना, स्तवन करना, वन्दना करना उनके गुणों का नित्य प्रति चितवन करना।

स्वाध्याय—सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी आप्त अर्थात् जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्ररूपित आगम का नित्य प्रति भक्ति तथा विनयपूर्वक पठन पाठन करना।

संयम—छहकाय के जीवों की दया पालना तथा पांचों इन्द्रियों और मनको विषय प्रवृत्ति से रोकना।

तप—शक्ति प्रमाण तप करना, अपनी इच्छाओं का निरोध करना, नियत समय पर सामायिक करना।

दान—शक्ति प्रमाण नित्य प्रति आहार, औषधि, ज्ञान और

अभय यह चार प्रकार का दान पात्रों को भक्ति पूर्वक और दीन दुःखी जीवों को करुणा बुद्धि से देना चाहिये।

यह ग्रहस्थों के षट् आवश्यक हैं, ये नित्य नियम पूर्वक पालन करने चाहियें।

इस प्रकार मुनियों तथा गृहस्थों के षट् आवश्यकों का वर्णन किया गया। प्रत्येक मनुष्य के लिये अपने २ पद के अनुसार इन आवश्यकों का पालन जरूरी है। भवरोग मिटाने के लिये यह औषधि रूप है। इनकी औषधपने की शक्ति सर्वज्ञ प्रणीत है और अनुभवगम्य है। औषधि बताने वाले वैद्य चाहे जितने निपुण और अनुभवी क्यों न हों, और उनकी बताई हुई औषधि भी चाहे जितनी अचूक क्यों न हो; परन्तु व्याधि का अन्त तो जब ही होगा जब उस औषधि को खाया जावे, केवल वैद्यजी का या उस औषधि का नाम मात्र जान लेने से या उसकी केवल प्रशंसा कर देने से रोग से मुक्ति नहीं हो सकेगी। षट् आवश्यक का नियम पूर्वक पालन करने से आत्मा निर्मल रहता है, पुराने पापों को शनैः शनैः अंश अंश करके छोड़ता जाता है, नवीन ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार जीव धर्म के सन्मुख रहता है और उसकी अन्तरवृत्ति जागृत रहती है। निर्दोष आवश्यक महाफल के देने वाले हैं, समस्त पापों का नाशकर भावों में उज्वलता लाने वाले हैं। जो इन षट् आवश्यकों का पालन निर्दोष करते हैं वे ही सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होते हैं, कहा भी है—

षट् आवश्य काल जो साधै, सो ही रत्नत्रय आराधै।

सन्मार्ग भावना—सन्मार्ग अर्थात् मोक्ष के सत्यार्थ मार्ग का प्रभाव प्रगट करने को सन्मार्ग प्रभावना कहते हैं—सन्मार्ग

रत्नत्रय रूप है, रत्नत्रय आत्मा का निज स्वभाव है। अनादि-काल से मिथ्यात्व, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को मलीन और विपरीत कर रखा है, अब परमागम की शरण प्राप्त करके इस वैभाविक परणति का त्याग कर अपने रत्नत्रय रूप स्वभाव को उज्ज्वल करूँ। मनुष्य जन्म, इन्द्रियों की परिपूर्णता, ज्ञान, शक्ति और परमागम का शरण, साधर्मियों का समागम और स्वस्थ शरीर, संक्लेश रहित आजीविका इत्यादिक पुण्यरूप सामग्री प्राप्त करके भी यदि अब मैंने आत्मा को मिथ्यात्व, कषाय तथा विषयादिक से नहीं छुड़ाया तो इस अनन्तानन्त दुःखों से भरे संसार समुद्र से अनन्त-काल तक भी मेरा निकलना नहीं होगा। जो सामग्री मुझे पुण्योदय से इस समय मिली है फिर अनन्तकाल में भी मिलनी दुर्लभ है। अन्तरंग और बहिरंग की सारी सामग्री और साधनों के प्राप्त होते हुवे भी यदि मैंने अपनी आत्मा को विकसित करके उसके प्रभाव को प्रगट नहीं किया तो अचानक काल आकर इस समस्त संयोग को नष्ट कर डालेगा, इसलिये अब मुझे उचित है कि राग द्वेष और मोह को दूर कर जैसे भी बने अपने शुद्ध वीतराग स्वरूप आत्मा को अनुभव कराने के निमित्त ध्यान स्वाध्याय में लीन होऊं। मेरी बाह्य प्रवृत्ति ऐसी उज्ज्वल होवे कि मेरे अन्तर्गत धर्म का प्रभाव उसके द्वारा दूसरों पर पड़े, मेरी अन्तरंग और बहिरंग की प्रवृत्ति को देखकर अन्य मतावलंबियों के हृदय में भी प्रभु के धर्म की महिमा प्रवेश कर जावे, अनायास वे कहने लगें 'धन्य है जिनेन्द्र के धर्म को, वास्तव में ये ही संसार के जीवों का सच्चा हितू और कल्याणकर्त्ता है। भगवान् की परमशांतमुद्रा रूप वीत-राग प्रतिमा का अभिषेक, पूजन, स्तवन आदि ऐसी विनय और

भक्ति के साथ किया जावे, कि उसका प्रभाव सब पर छा जावे उसके देखने और सुनने से निकट भव्य जीवों की आंखों से आनन्द के अश्रुपात झरने लग जावें, अरहन्त की भक्ति डूबते हुए को हस्तावलम्बन देने वाली है, पर्व के दिनों में आरम्भ छोड़ जिनेन्द्र का पूजन करना, गुण गान करना, सब प्रभावना है। जिनके हृदय में सत्यार्थ धर्म होता है वही प्रभावना भावना का चिन्तवन किया करते हैं। जिनवाणी का ऐसे ढंग से व्याख्यान करना जिसको सुनकर श्रोतागण प्रभावित हो जावें, एकांत को छोड़ अनेकान्त उनके हृदय में रचजावे; पाप के यथार्थ स्वरूप को जानकर वे पाप से भयभीत होवें, व्यसन छूट जावें, दयामय धर्म के स्वरूप को जान उसमें उनकी प्रवृत्ति हो जावे। सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु के प्रति उनकी दृढ़ता होजावे। श्रोतागण अभक्ष्य भोजन का त्याग कर देवें, अन्याय तथा अनीति को छोड़ें, परधन में राग छोड़ व्रत, शील, संयम, तप तथा सन्तोष को ग्रहण करें। धनाढ्य होवे तो जहाँ जिनमन्दिर की, चैत्यालय की वास्तव में आवश्यकता होवे, वहाँ मन्दिर या चैत्यालय बनवावें, जहाँ पाठशाला, स्वाध्यायशाला, विद्यालय, छात्रालय की आवश्यकता हो वहाँ वैसा ही उचित प्रबन्ध करें, मन्दिर बनवाने वाले तथा दान देने वाले की अन्तरंग और बहिरंग की दोनों की शुद्धि होनी चाहिये। जो मन्दिर और प्रतिष्ठा तो करवावें और अनीति से दूसरों का धन मार लेवें, अन्याय के धन को ग्रहण करें तो प्रभावना नष्ट होजावेगी। प्रतिष्ठा कराने वाला, मन्दिर बनवाने वाला, खोटा बनज व्यौहार करे तथा हिंसादिक महापापरूप कार्यों में, निंद्य अयोग्य वचनों में या तीव्र लोभ में प्रवृत्ति करे, कुशील का सेवन करे या अत्यन्त कंजूसी के साथ संक्लेशित होकर धन लगावे तो उसकी प्रभावना नष्ट होजाती

है। वास्तविक प्रभावना तो रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का साधन करने से होती है। प्रभावना दुःख का नाश करने वाली है। जैन धर्म को ग्रहण कर उसके वास्तविक रूप को समझ जो यथार्थ रीति से उसका पालन करते हैं प्रभावना उनसे होती है। जो सच्चे श्रद्धानी होते हैं, ज्ञानी होते हैं, जिनके चारित्र की उज्ज्वलता होती है, प्रभावना उनसे होती है। जो अपना सर्वस्व नष्ट होते हुवे भी हिंसा नहीं करते, असत्य वचन नहीं कहते, जो घोर से घोर आपदा आते हुवे भी परधन में अपने चित्त को चलायमान नहीं करते, जो अखंड ब्रह्मचर्य का निर्दोष पालन करते हैं, जो सन्तोषमय जीवन व्यतीत करते हैं जो अपने प्राण और धन जाते हुवे भी अपने धर्म की निंदा या हँसी नहीं होने देते हैं उनके सन्मार्ग प्रभावना होती है। जिनके हृदय से करुणा स्रोत बहता है, जो दीन दुःखी जीवों को देखकर उन पर करुणा करते हैं, उनके दुख दर्द को मिटाने के लिये भरसक प्रयत्न करते हैं, किसी से घृणा नहीं करते, दूसरों का तथा निज कल्याण करने की भावना जिनके अन्तरंग में बनी रहती है, उनके प्रभावना नाम की भावना होती है, सारांश यह है कि धर्म का उद्योत करो, अपनी आत्मा के गुणों को विकसित करो। दान, तप, पूजा विधान, विद्या प्रचार, ज्ञान वृद्धि इत्यादिक द्वारा जिनधर्म का उद्योत करो, कराओ, ये ही सच्ची प्रभावना है। इस भावना की महिमा अचिन्त्य है, जो प्रभावना भावना को श्रद्धा पूर्वक दृढ़ता के साथ धारण करते हैं निश्चय से परम पूज्य पद को प्राप्त होते हैं। कहा है—

"धर्म प्रभाव करहिं जे प्राणी, तिन शिव मारग रीति पिछानी" ॥

प्रवचन वात्सल्य—देव, गुरु, धर्म के प्रति प्रीति-भाव दर्शाना प्रवचन वात्सल्य है। जो चारित्रवान् हैं, शीलवान् हैं,

परम साम्यभाव के धारक हैं, बाईस परीषह को सहन करने वाले हैं, जिनके शरीर से ममता नहीं, जो समस्त विषय भोगों से सर्वथा विरक्त हैं, जो आत्महित में उद्यमी हैं जो निज तथा परका हित साधन करने में नितप्रति सावधान रहते हैं, ऐसे साधुजन के गुणों के प्रति जिनके परिणामों में प्रीति होती है, उनके वात्सल्य होता है। व्रती, पाप से भयभीत, न्याय मार्गी, धर्मानुरागी, सन्तोषी, मन्द कषायी, श्रावक श्राविकाओं के गुणों में तथा उनकी संगति में अनुराग करना वात्सल्य है। एक शुद्ध सोलह हाथ प्रमाण साड़ी के अतिरिक्त समस्त परिग्रह का त्याग कर निर्ममत्व बुद्धि के साथ, परोषह को सहन करती हैं, संयम सहित ध्यान, स्वाध्याय, सामायिकादि षट् आवश्यक कर्मों का पालन करने में सदैव तत्पर रहती हैं, ऐसी ज्ञानी, ध्यानी तथा संयमी आर्यिकाओं के गुणों में अनुराग करना वात्सल्य है। उत्तम श्रावकों के गुणों में अनुराग करना वात्सल्य है। अवृति सम्यक् दृष्टि के साथ प्रीति करना वात्सल्य है। धन्य हैं वे पुरुष जिनके हृदय में वात्सल्य का निवास है, वात्सल्य उन के ही होता है जो सम्यक्ज्ञान के द्वारा मोह का नाश कर आत्मगुणों में प्रीति करते हैं। विषय लंपटी, मोही, संसारी जीवों के वात्सल्य नहीं होता, धन की लालसा से अति व्याकुल होते हैं, वात्सल्यता को वे दूर से ही त्याग देते हैं, ज्यों २ उनके धन की वृद्धि होती है त्यों २ उनकी तृष्णा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती है, वे धर्म मार्ग को भूल ही जाते हैं, रात दिन धन के बढ़ाने में ही वे लवलीन रहा करते हैं, लखपति हो जाते हैं तो करोड़पति होने की धुन सिर पर सवार हो जाती है, निन्यानवें के फेर में पड़ जाते हैं। आरंभ परिग्रह के बढ़ाने की तथा पाप रूप प्रवृत्ति में फंसे रहने की हर समय उनकी रुचि बनी रहती है, तथा धर्मानुराग छूट

जाता है। इतनी फुरसत कहाँ जो धर्मानुराग के भाव को दिल में आने की गुंजाइश मिल जावे। पंचम काल का यो प्रभाव कुछ ऐसा ही है जिसके कारण धर्मात्माओं के प्रति तथा धर्म धारण करने की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता है। उनके लिये धर्म साधन केवल एक दिखावट की ही चीज रह जाती है, लोक लाज के कारण नाम मात्र के लिये उसे धारण करते हैं। धन रहित यदि कोई धर्मात्मा भी होता है तो उसको नीचा मानते हैं। कल्याण उन्हीं का होता है जो शरीर और भोगों को अस्थिर और दुखदायी जान, कुटुम्ब को महान् बन्धन समझ तथा लक्ष्मी और संपदा को महा मद को उत्पन्न करने वाली तथा क्षण भंगुर समझ इनसे प्रीति छोड़ अपने शुद्ध चिदानंद रूप आत्मा से प्रीति करेंगे।

पंच परमेष्ठी का गुणानुवाद करना परम वात्सल्य है, इनकी भक्ति से संसारी जीव संसार परिभ्रमण से छूट निर्वाण पद को प्राप्त होते हैं। वात्सल्य की महिमा अचिन्त्य है, वात्सल्य गुण के धारक महात्माओं को देव भी नमस्कार करते हैं, मनुष्यों का तो कहना ही क्या है, वात्सल्य के प्रभाव से पाप का प्रवेश नहीं हो पाता, वात्सल्य के बिना सब जप तप निरर्थक हैं। जहाँ दया है अहिंसा है, वहाँ वात्सल्य है। जिनेन्द्र के मार्ग की शोभा वात्सल्य से होती है। वात्सल्य से सम्यकदर्शन निर्दोष होता है, वात्सल्य से ही दान सफल होता है। वात्सल्य मनुष्य जन्म का भूषण है। जहाँ वात्सल्य है वहाँ विनय है, विवेक है, श्रद्धा है, भक्ति है। वात्सल्य यश तथा कीर्त्ति का निवास है। जिनेन्द्र की भक्ति, गुरु की सेवा, वैयावृत्य, जिनवाणी का स्वाध्याय, साधर्मीजनों का प्रेम, धर्मानुराग तथा दान देने की रुचि ये सब गुण वात्सल्य से ही होते हैं। जिन महान् आत्माओं में

अपने वात्सल्य को केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि छह काय के समस्त ही जीवों से जिन्होंने वात्सल्य किया है उन्होंने ही त्रैलोक्य में अतिशय रूप तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति का बन्ध किया है। कहा है:—

वत्सल अंग सदा जो ध्यावै, सो तीर्थंकर पदवी पावै ॥

यह सोलह कारण भावनायें सबकी सब मिलकर या सम्यक्-दर्शन सहित होने पर इनमें से एक २ जुदा जुदा भी परमोत्कृष्ट तीर्थंकर नामा नामकर्म प्रकृति के बंध का कारण हैं। सम्यक्दर्शन के बिना शेष पन्द्रह भावनायें कुल की कुल मिलकर भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने को समर्थ नहीं। तीर्थंकर कर्म प्रकृति का बन्ध कर्मभूमि के मनुष्य पुरुष लिंगधारी के होता है, शेष तीन गतियों में नहीं होता। केवली तथा श्रुत केवली के चरणारविन्द के समीप ही यह बन्ध होता है क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति के बंध के योग्य भावों की विशुद्धता केवली श्रुतकेवली के निकट बिना और कहीं नहीं होती है, तीर्थंकर कर्म प्रकृति का बन्ध प्रथमोपशम सम्यक्त में तथा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व क्षयोपशम तथा क्षायिक सम्यक्त्व इन चारों सम्यक्तों में किसी एक में होता है। जिसके तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होजाता है वह भवनत्रिक देवों में अन्य मनुष्य तिर्यंचों में, स्त्री, नपुंसक एकेन्द्रिय, विकल चतुष्कादि पर्यायों में जन्म नहीं लेता है और तीसरे नर्क से नीचे जन्म नहीं लेता है। इसी कारण षोडश भावना कुगति का निवारण करने वाली हैं। षोडशकारण भावना होने के बाद तीसरे भव में अवश्य निर्वाण पद की प्राप्ति होती है, ऐसे यह भावना शिव कहिये मोक्ष की कारण हैं। ये भावनायें समस्त पाप का नाश करने वाली परिणामों के मल को विध्वंस करने वाली सुनते, पठन पाठन करते

संसार बन्ध के छेदने वाली हैं ऐसा जान निरन्तर इनका चिन्तवन तथा आराधन करो।

बारह भावना

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ, धर्म, ये बारह भावनायें हैं। यह बारह भावनायें धर्म ध्यान में निरन्तर चिन्तवन करने योग्य हैं। इनके स्वरूप का चिंतवन कर स्वयम् तीर्थंकर भगवान् संसार और शरीर भोगों से विरक्त होते हैं। ये बारह भावनायें वैराग्य की माता हैं, सब जीवों का कल्याण करने वाली हैं। अनेक प्रकार के दुखों से पीड़ित संसारी जीवों के लिये ये भावनायें उत्तम शरण हैं। परमार्थ मार्ग के दिखाने वाली हैं, तत्वों का निर्णय कराने वाली हैं सम्यक्त्व को उत्पन्न कराने वाली हैं; अशुभ ध्यान को नष्ट करने वाली हैं। ये बारह भावनायें द्वादशांग का सार हैं। इन बारह भावनाओं के समान इस जीव का अन्य कोई हित करने वाला नहीं है। दुःख रूप अग्नि से तप्तायमान जीवों के लिये ये भावनायें शीतल सुगंधित कमल बन के बीच में निवास समान हैं अब इनका जुदा २ वर्णन करते हैं:—

१. अनित्य भावना—संसार, शरीर भोग इन्द्रियों के विषय धन यौवन आदि सब असार हैं, सदा स्थिर रहने वाले नहीं हैं। संसार में जो उपजता है अवश्य ही नाश को प्राप्त होता है ऐसा अटल नियम है। देव क्या, मनुष्य क्या और तिर्यंच क्या सब ही जल के बुदबुदे के समान नाशवान हैं, आँखों के सामने देखते देखते विलायमान होते रहते हैं। समस्त ऋद्धियें, संपदा स्वप्न के समान हैं, धन यौवन जीवन परिवार सब क्षण भंगुर हैं, मोही संसारी जीव इनको अपना निज स्वरूप मान रहे हैं और इनको अपने लिये हितकारी जान रहे हैं। इन्द्रिय जनित सुख इन्द्र धनुष

के समान क्षण भंगुर हैं, यौवन का जोश संध्याकाल की लाली के समान क्षण क्षण में नाश को प्राप्त होता रहता है। स्त्री पुत्र मित्रादिक का सम्बन्ध सदा बना नहीं रहता, ये सब लोग शरद् काल के बादलों के समान बिखर जाते हैं। इनका स्वप्न सरीखा संयोग है। यह शरीर ही जिसको हम इतना पालते पोषते हैं, जिसकी रक्षा के लिये हम अन्याय और अनीति करते हुवे आगा पीछा नहीं देखते हैं, हमारा नहीं है। हमारे साथ जाने वाला नहीं है। ऐसे शरीर में स्थिर बुद्धि करना महान् भूल है। लक्ष्मी वेश्या के समान चंचल है, देखते २ नाश को प्राप्त हो जाती है, किसी की रखी रहती नहीं। भगवान् का उपदेश है कि अपने पुण्यानुसार न्याय से प्राप्त किये हुवे धन को सन्तोष के साथ भोगो, न्याय के विषय को भोगो। इस लक्ष्मी को क्षण भंगुर जान इसके द्वारा अपना तथा परका कल्याण करो। लक्ष्मी का फल यह नहीं है कि इसे जोड़ २ कर मरजावें, इसका फल केवल उपकार करना है, धर्म मार्ग का चलाना है। धन्य हैं वे पुरुष जो लोभ कषाय का त्याग कर लक्ष्मी को ग्रहण ही नहीं करते, धन्य हैं वे पुरुष जो ग्रहण करने के बाद भी ममत्व भाव को दूर कर क्षणमात्र में इसको त्याग देते हैं। यह धन, यौवन, जीवन, कुटुम्ब संयोग सब क्षण भंगुर हैं, इनके संयोग वियोग में हर्ष विषाद क्यों करें? आत्मा नित्य है, अखंड है ध्रुव है, ऐसा विचार कर आत्मा के हितरूप कार्य में प्रवर्तन करो। ऐसा बार बार विचार करना अनित्य भावना है, इस भावना को एक क्षणमात्र भी न भुलावें, इससे परपदार्थों से ममत्व भाव छूटता है और आत्म कार्य में प्रवृत्ति होती है।

द्रव्य दृष्टि तें वस्तु थिर, पर्यय अथिर निहार।
उपजत विनशत देख के, हर्ष विषाद निवार॥

२. अशरण भावना—संसारी जीवों को सदैव किसी न किसी प्रकार की चिन्ता बनी रहती है। जब कोई आपत्ति अपने पर आती है और वह उस आपत्ति को दूर करने में या उसको सहन करने में अपने को असमर्थ पाता है तो दुःखी हुवा किसी ऐसे बलवान् पुरुष की तलाश करता है जिसकी शरण में वह जा सके और अपने कष्ट से छुटकारा पा सके। वह नहीं समझता कि संसार में कोई किसी को सुख दुःख देने वाला नहीं है, सुख दुःख तो अपने पुण्य पाप कर्मोदय से हुवा करते हैं, कहा है "सुख दुखदाता कोई नहीं जीव का पाप पुण्य है कारण वीर।" कर्मोदय बलवान् है तीर्थंकर भगवान भी उससे नहीं बचते और साधारण प्राणियों की तो बात ही क्या है ?

जैसे बन में एक सिंह हिरण को आ दबोचता है उसी प्रकार काल देव, असुर, चक्रवर्त्ति आदि सबको आ दबोचता है और क्षणमात्र में देखतेर नष्ट कर डालता है। मणि, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र आदि कितने ही उपाय क्यों न किये जावें आयु कर्म के पूर्ण होजाने पर कोई भी जीव को मरण से नहीं बचा सकते। वास्तव में संसार में इस जीव को किसी की शरण नहीं है इसे अपनी लड़ाई, आप लड़नी पड़ती है। व्यवहार में चार शरण आचार्यों ने बताई हैं, अरहन्त परमेष्ठी की शरण, सिद्ध परमेष्ठी की शरण, साधु परमेष्ठी की शरण तथा केवली प्रणीत जिनधर्म की शरण। निश्चयनय से जीव को केवल अपनी ही शरण है। इस प्रकार निरन्तर चिन्तवन करना अशरण भावना है। यह भावना स्वावलम्बन तथा निर्भयता का पाठ पढ़ाने वाली है। घोर से घोर संकट के समय में मनुष्य को परम धैर्य धारण करा साम्यभाव की प्राप्ति कराने वाली और परमानन्द का आस्वादन कराने वाली यह भावना है। सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र आत्मा का

निज स्वरूप है, यही परमार्थ रूप शरण है। अन्य सब अशरण हैं, निश्चय पूर्वक इसकी ही शरण ग्रहण करो—

वस्तु स्वभाव विचार तें, शरण आपको आप।
व्यवहार पण परम गुरु, अवर सकल सन्ताप॥

३. संसार भावना—यह संसारी जीव अनादिकाल से कर्मोदयानुसार चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता हुवा अनेक प्रकार के दुःखों को सहन करता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंच परिवर्तन किया करता है। संसार सर्व प्रकार असार इसमें कहीं भी लेशमात्र सुख नहीं है, नरकगति में नाना प्रकार के छेदन, भेदन, ताड़न, तापन आदि अनेक पीड़ायें उठानी पड़ती हैं। तिर्यंचगति में भूख प्यास, मारण, ताड़न, शक्ति से अधिक बोझा लादा जाने तथा उठाने, खैंचने आदि के अनेक कष्ट पराधीन हुवे सहन करने पड़ते हैं। मनुष्यगति में इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, अनेक प्रकार की मानसिक चिन्तायें मनुष्यों को सवेरे से शाम तक सताया करती हैं। जिनके पुण्योदय होता है वे भी सदा सुखी नहीं देखे जाते। मनुष्यगति और तिर्यंचगति के दुख तो हमारे सामने प्रत्यक्ष ही देखने में आते हैं, देव पर्याय में भी मानसिक दुख सदा बना रहता है देवांगनाओं के वियोग के समय में देवों को बड़ा खेद होता है, दूसरे देवों को मरते देख अपनी मृत्यु का भय सताता है, अपने मरण से पहले माला मुरझाई देख महा-व्याकुलता को प्राप्त होता है तथा अन्य देवों की अधिक सम्पत्ति देख ईर्षा पैदा होती है इत्यादि अनेक कष्टों का अनुभव करना पड़ता है। इस प्रकार चारों ही गति दुःख रूप हैं, संसार में कहीं भी सुख नहीं है, पंचमगति मोक्ष में ही अतीन्द्रिय, निरा-बाध, अविनाशी, निराकुलता रूप सुख की प्राप्ति इस जीव को

होनी है। संसार का ऐसा स्वरूप विचार चारों गतियों से उदासीन हो मोक्ष का उपाय करना ही जीव का परम कर्तव्य है। निरन्तर ऐसा चिन्तवन करने का नाम संसार भावना है। संसार के सत्यार्थ स्वरूप का बार बार चिंतवन करने वाले के संसार से उदासीनता रहती है, किसी न किसी दिन विरक्त हो संसार परिभ्रमण का दूर करने के उद्यम में सावधान होजाता है।

पंच परावर्तन मई, दुःख रूप संसार।
मिथ्या कर्म उदय यहै, भरमै जीव अपार ॥

४. एकत्व भावना—अपने शुभाशुभ कर्म के फल को यह जीव आप अकेला ही भोगता है। पुत्र, स्त्री आदि कोई भी इस के दुख के साथी नहीं होते, ये सब अपने स्वार्थ के ही सगे होते हैं। आत्मा सदा ही अकेला है, जन्म मरण के समय अकेला ही होता है, अकेला ही अनेक अवस्थाओं को धारण करता है। इस संसार में इस जीव का धर्म को छोड़ अन्य कोई भी हितू नहीं है। निरन्तर इस प्रकार चिन्तवन करना एकत्व भावना है। इस भावना का भावक चिन्तवन करता है—

आत्मा सदा नित्य व एक मेरा, ज्ञान स्वभावी अकलंक भी है।
पदार्थ सारे जग के विनाशी; उत्पन्न होते निज हेतु से हैं॥

इस भावना के भाने से स्वजनों में प्रीति नहीं होती, अन्य परजनों से द्वेष का अभाव हो जाता है, अपने आत्मा की शुद्धता के लिये अधिकाधिक प्रयत्न करने लगता है।

एक जीव पर्याय बहु, धारे स्वपर निदान।
पर तज आपा जान कर, करहु भव्य कल्याण ॥

५. अन्यत्व भावना—जल और दूध की तरह शरीर और जीव का मेल अनादि काल से हो रहा है, परन्तु हैं दोनों जुदा २, एक नहीं हैं। जब अनादिकाल से मिले हुवे हो कर भी यह एक

नहीं हैं तो धन, धान्य, मकान, स्त्री, पुत्रादि जो सर्वथा अपने से भिन्न हैं अपने कैसे होंगे ? कदापि अपने नहीं होंगे। कहा है:—

"मेरा नहीं बाह्य पदार्थ कोई, न मैं हुआ हूँ उन का कभी भी।
ऐसा विचारो मन में सदा ही, हो बाह्य को छोड़ सुमुक्तिपात्र ॥"

इस प्रकार शरीर कुटुम्बादि से अपने स्वरूप को सर्वथा भिन्न चिन्तवन करने का नाम अन्यत्व भावना है। जो ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म, राग द्वेषादिक भाव कर्म, शरीरादिक नो कर्म, इन को अपने निज स्वभाव से सर्वथा भिन्न जान कर ज्ञान दर्शनमय शुद्ध चिदानन्द रूप आत्मा का सेवन करते हैं उन के अन्यत्व भावना कार्यकारी होती है।

निज आतम तें भिन्न पर, जानें जे नर दक्ष।
निज में रमें बनें अमर, ते शिव लखें प्रत्यक्ष ॥

६. **अशुचि भावना**—हमारा शरीर मांस खून, पीप तथा विष्टा की थैली है। हड्डी, चरबी आदि अपवित्र वस्तुओं के कारण मैली है। जिस शरीर के नव द्वारों से महा घृणा उत्पन्न करने वाला मैल बहा करता है, उस मैले शरीर से क्या यारी करनी ? यह शरीर महा अशुचि है, आत्मा ज्ञान मई महा पवित्र है। आत्मा का शरीर से क्या संबन्ध ? केवल विचार मात्र से ही भावना नहीं होती, देह को अशुचि विचार करने से यदि परिणामों में वैराग्य भाव प्रगट होता है तो भावना सत्यार्थ कही जाती है, अन्यथा नहीं। ऐसा चिन्तवन करने का नाम अशुचि भावना है। शरीर के अशुचिपने का चिंतवन करने से शरीर संस्कारों में तथा रूपादिक में राग भाव का अभाव होता है और परिणामों में वीतरागता बढ़ती है। यहाँ प्रयोजन यह है कि इस शरीर से मोह नहीं करना चाहिये। जब तक कि कोई जीव संसार में है, वह अवश्य किसी न किसी शरीर को धारण किये

हुए होता है, जब संसारी दशा में शरीर अनिवार्य है तो हमें इस से अधिक से अधिक काम अपना लेना चाहिये। इस शरीर के द्वारा जितना भी आत्म-हित हो सके, उस के साधन करने में किञ्चित् मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्म साधन के लिये शरीर उपयोगी है, इस लिये इस का घात करना भी अनुचित है, विचार पूर्वक माध्यस्थ भाव का अवलम्बन करना अति श्रेष्ठ है। इस शरीर के ऊपर पूर्ण काबू रखना चाहिये, इस का दास हो कर नहीं रहना चाहिये। यह शरीर साधन है, आत्मकल्याण साध्य है। दृष्टि साध्य पर बनी रहनी चाहिये, साध्य की प्राप्ति ही हमारा ध्येय है। जब तक साधन साध्य की प्राप्ति में सहायक और उपयोगी जान पड़े तब तक यथायोग्य रीति से उस की रक्षा करते हुवे उस से काम निकालो, जब साध्य की प्राप्ति हो जावेगी तो साधन की कोई आवश्यकता ही न रहेगी और वह स्वयम् ही छूट जावेगा। ऐसा विचार शरीर को आत्मा से सर्वथा भिन्न जानो, उस से मोह न करो, उस को ही अपना आप न मानो, शरीर को आवश्यकतानुसार उचित सात्विक भोजन दे कर उस से अपना पूरा पूरा काम लेना, यथा शक्ति तप, संयम, दया, क्षमा आदि धर्म साधन करना तथा इस मनुष्य जन्म को सफल बनाना उचित है। इसी में हित है।

"स्वपर देह कूं अशुचि लख, तजै तास अनुराग।
ताके सांची भावना, सो कहिये बड़भाग॥"

७. आस्रव भावना—मन, वचन, काय की चपलताई से कर्मों का आस्रव होता है, यह आस्रव बड़ा ही दुखदाई है, बुद्धिवान पुरुष सदैव ही कर्म आस्रव को रोकने का यत्न किया करते हैं। पांच मिथ्यात्व, बारह अव्रत, २५ कषाय और १५ योग इस प्रकार ५७ द्वारों से जीव के शुभाशुभ कर्मों का आना होता

है इसी का नाम आस्रव है। यह आस्रव दो प्रकार का होता है, शुभास्रव तथा अशुभास्रव। शुभ योग जन्य कर्मों के आस्रव को शुभ आस्रव कहते हैं और अशुभ योग जन्य कर्मों के आस्रव को अशुभास्रव कहते हैं। आस्रव से बन्ध होता है जो संसार का मूल कारण है, इसलिये मोक्षाभिलाषी पुरुषों को उचित है कि वह आस्रव तथा बन्ध के कारणों से विमुख रहें। इस प्रकार आस्रव के स्वरूप का चिन्तवन करना आस्रव भावना है।

पंच प्रकार का मिथ्यात्व—१. वस्तु में अनेक स्वभाव होते हुवे भी एक ही को ग्रहण करना एकान्त मिथ्यात्व है—२. विपरीत मिथ्यात्व-अधर्म को धर्म जानना, उल्टे श्रद्धान को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। ३. विनय मिथ्यात्व—समस्त प्रकार के देव, कुदेव, गुरु-कुगुरु, धर्म अधर्म को एकसा जानना तथा सबकी एकसा विनय भक्ति करना, ४. संशय मिथ्यात्व-जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में संशय करना, निर्णय न करना, ५. अज्ञान मिथ्यात्व—हिताहित की परीक्षा बिना देखा देखी श्रद्धान करना।

बारह अव्रत—पांच इन्द्रिय और छठे मन का असंयम और छह काय के जीवों की अदया।

पच्चीस कषाय—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्याना वरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इस प्रकार ये सोलह कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद यह नौ नो कषाय कुल मिलकर २५ कषाय होते हैं।

पन्द्रह योग–४. मनोयोग–सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग, ४. वचन योग–सत्य वचन योग, असत्य वचन योग, उभय वचन योग, अनुभय वचन योग।

७. काय योग—औदारिक काय योग, औदारिक मिश्र काय योग, वैक्रियक काय योग, वैक्रियक मिश्र काय योग, आहारक काय योग, आहारक मिश्र काय योग और कार्माण योग ।

इस प्रकार ५ मिथ्यात्व, १२ अव्रत, २५ कषाय और १५ योग मिलकर कुल ५७ आस्रव के कारण होते हैं। जो पुरुष इन पूर्वोक्त मिथ्यात्वादिक भावों को हेय जानते हुवे अपने वीतराग स्वभाव में तल्लीन हो इनका त्याग करता है उसके आस्रव भावना होती है ।

"आस्रव पंच प्रकार को, चितवें तजें विकार ।
ते पावें निज रूप कूं, यहै भावना सार ॥"

८. संवर भावना—कर्मों के आस्रव को रोकने का नाम संवर है। जिन जीवों ने अपने परिणामों को पुण्य और पाप रूप न होने दे कर निज आत्मानुभव में ही अपने मन को लगा कर उन्होंने ही आते हुए कर्मों को रोका और संवर की प्राप्ति कर सुख को प्राप्त किया। संवर के कारण पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, दश लक्षण धर्म, बारह भावना और बाईस परिषहों के स्वरूप का बार २ चिंतवन करना संवर अनुप्रेक्षा है । जो जीव इन्द्रिय तथा मन को वश में कर विषय कषाय से पराङ्मुख हो रागद्वेषादि रहित अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा में प्रवृत्ति करता है उस के संवर भावना होती है ।

गुप्ति समिति वृष भावना, जयन परीषह सार ।
चारित धारे संग तज, सो मुनि संवर धार ॥

९. निर्जरा भावना—जो कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर झड़ जाते हैं, उस से अपना कार्य नहीं सरता। तपश्चरण कर के जो कर्मों को उन की स्थिति पूर्ण होने से पहले ही नष्ट कर डालता है, वह ही अपने में मोक्ष सुख को दर्शाता है। पूर्व संचित कर्मों

के उदय में आ कर खिर जाने को निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा दो प्रकार की होती है। एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा। कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर, फल देकर स्वयं कर्मों के झड़ जाने को सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा सब ही संसारी जीवों के हुआ करती है। कर्मों की स्थिति पूर्ण होने से पहले ही कर्मों को तपश्चरण आदि द्वारा अनुदय अवस्था में ही झाड़ देने को अविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा सम्यक् दृष्टि व यतीश्वरों के हुआ करती है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप तथा उस के उपायों का बार २ चिन्तवन करना निर्जरा भावना है। जो उत्तम पुरुष इन्द्रियों को और कषायों को महा दुःख रूप जान कर उन को जीतते हैं और समभाव रूप सुख में लीन हो कर बारंबार अपने स्वरूप की उज्वलता स्मरण किया करते हैं उन्हीं के कर्मों की निर्जरा हुआ करती है और वे ही परम अतीन्द्रिय अविनाशी अनन्त सुख को प्राप्त किया करते हैं।

पूर्व बांधे कर्म जे, त्तरैं तपोबल पाय।
सो निर्जरा कहाय है, धारैं ते शिव पांय॥

१०. **लोक भावना**——इस लोक को न किसी ने बनाया है, और न कोई इसे धारण किये हुवे है, यह अनादि सिद्ध है, तीन वलयों के मध्य में स्थित है। यह लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल इन छह द्रव्यों से भरा हुवा है, कोई भी इस का नाश नहीं कर सकता। इस लोक की आकृति पुरुषाकार है लोकाकाश के अग्र भाग में सिद्ध शिला है, जहाँ अनन्त सिद्ध विराजमान हैं। इत्यादि लोक की रचना तथा स्वरूप के चिंतवन करने को लोक भावना कहते हैं। लोक के तथा जीवादि के स्वरूप को जान कर अपने स्वभाव में निश्चल हो जो कर्म कलंक को अपनी आत्मा से धो डालता है वही भव्य जीव मोक्ष के परम

अतीन्द्रिय अविनाशी सुख को प्राप्त होता है।

कुंडलिया—लोकाकार विचार के, सिद्ध स्वरूप विचार।
राग विरोध विडारके, आतम रूप संवार॥
आतम रूप संवार मोक्षपुर बसो सदा ही।
आधि व्याधि अरु मरण आदि दुख है न कदाही॥
श्री गुरु शिक्षा धार टार अभिमान कुशोका।
मन थिर कारण यह विचार निजरूप सुलोका॥

११. बोधि दुर्लभ भावना—इस जीव ने नौ ग्रीवक तक जाकर अनंत बार वहांका अहमिन्द्र पद पाया, परन्तु सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, ऐसे सम्यक् ज्ञान को मुनियों ने निज आत्मा में ही साधन किया है। यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति बड़ी कठिन तथा दुर्लभ है जैसा कि भूधरदासजी ने भी कहा है:—

धन कन कंचन राज सुख, सबै सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान॥

इस भावना का भाने वाला विचारता है कि इस दीर्घ कालीन संसार में एक तो मनुष्य जन्म का पाना बड़ा कठिन है, दूसरे उत्तम कुल, दीर्घायु, इन्द्रिय पूर्णता, उत्तम देश, श्रेष्ठसंगति तथा जैनधर्म का समागम यह सब साधन मिलना एक से एक कठिन है। तिस पर जैन धर्म का ज्ञान होना तो बहुत ही कठिन है। जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्रतिपादित तत्वों का ज्ञान होना कठिन है। ज्ञान होने पर श्रद्धान तो और भी कठिन है, श्रद्धान सहित ज्ञान होने पर चारित्र के पालन में बुद्धिमान पुरुषों को प्रमाद नहीं करना चाहिये। मनुष्य जन्म के समाप्त हो जाने का कोई समय नियत नहीं है, शीघ्रातिशीघ्र आत्म-शुद्धि का पुरुषार्थ करना उचित है। मुनि या श्रावक के व्यवहार चारित्र के सहारेसे स्वात्मानुभव रूप निश्चय चारित्र का अभ्यास करना योग्य है

जिस से जीवन सदा सुखरूप हो जावे। रत्नत्रय का पाना मनुष्य जन्म में ही होता है, मनुष्य गति ही में तप, व्रत, संयम साधन कर के निर्वाण पद प्राप्त होता है। ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर भी जो विषय भोगों में रत रहते हैं, वे दिव्य रत्न को भस्मी के निमित्त दग्ध करते हैं। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान की दुर्लभता पर बार २ विचार करना बोधि दुर्लभ भावना है।

छप्पय:—बसि निगोद चिर निकसि खेद सहि धरनि तरुनि बहु।
पवन बोद जल अगि निगोद लहि जनम मरण सहु॥
लट गिंडोल उटकण मगोड़ तन भमर भमण कर।
जल विलोल पशु तन सुकोल नभचर सर उर पर॥
फिर नरक पात अति कष्ट सहि, कष्ट कष्ट नरतन महत।
तहँ पाय रत्नत्रय चिगत जे, ते दुर्लभ अवसर लहत॥

१२. धर्म भावना—धर्म उसे कहते हैं जो जीवों को संसार समुद्र में डूबने से बचावे तथा जो सदा उत्तम सुख देवे, यह धर्म आत्म स्वभाव रूप है, उत्तम क्षमादि दशलक्षण रूप है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र रत्नत्रय रूप है। तथा जीव दयारूप अहिंसामय है। धर्म धारण करने का तथा पालन करने का एक ही उद्देश्य मोक्ष के अविचल, अविनाशी, अविकार, स्वाभाविक, निजाधीन अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करना है। जीव का स्वभाव चैतन्यमय है, इस परम निर्मल चैतन्यता को पूर्ण रूप से प्राप्त करना ही जीव का परम धर्म है।

व्यवहारधर्म के दो भेद कहे गये हैं, श्रावक धर्म तथा मुनि-धर्म। श्रावकधर्म अहिंसादि पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत रूप है। श्रावक के इस व्यवहार धर्म को ग्यारह प्रतिमाओं (दर्जों) में विभाजित कर दिया गया है। मुनिधर्म तेरह भेद रूप है—पंच महाव्रत, पंच समिति तथा तीन गुप्ति रूप

है। संसार के दुःखों से छूटने के लिये तथा मोक्ष के अविनाशी सुख को प्राप्त करने के लिये ही धर्म का पालन किया जाता है। प्रभु का धर्म सर्व प्रकार से सुख का भंडार है, इस का सेवन करने से वर्तमान में भी सुख होता है, आत्मीक आनन्द का स्वाद आता है तथा भविष्य में भी पुण्य के फल से साताकारी संयोग का मिलना होता है, यह धर्म परंपरा से मोक्ष का कारण है। सम्यक् दर्शन सहित धर्म का आचरण करना हमारे वर्तमान जीवन को दुःखों से रहित व साता से पूर्ण बनाता है। संसार दुःखों से भरा है, जिस जीव को संसारी दुःखों से पीड़ा हो रही है उस के लिये यह उचित है कि वह धर्म रूपी अमृत का पान करे, यही परम औषधि है जो सेवन करते हुए भी मीठी है, और जिस से सर्व दुःखों का अन्त भी सदैव के लिए हो जाता है। जैसे अमृत तुरंत मिष्टता देता है; शरीर को निरोगी बनाता है वैसे ही यह आत्मानुभव रूपी अमृत उसी समय आत्मानन्द देता है और उन कर्मों का नाश करता है जो संसार में दुःख फल को देने वाले हैं। जो मनुष्य मनुष्य जन्म पा कर धर्म का साधन नहीं करते उन का जीना न जीना समान है, वह मृत के समान ही है किन्तु उस से भी बुरा। क्योंकि मृतक पाप संचय नहीं करता है। धर्म रहित अधर्मी मनुष्य पापों का संचय करके भावी जीवन को दुःख मय बना लेता है। ऐसा जानं विवेकी पुरुषों के लिये उचित है कि पवित्र जिन धर्म का आराधन करें और पुरुषार्थ करके ध्यान, स्वाध्याय, भक्ति, तपादि के द्वारा मन को स्थिर कर अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप का मनन किया करें।

मुनि श्रावक के भेद तैं, धर्म दोय परकार।
ताकूं सुन चितवो सतत्, गहि पावो भवपार॥

इस प्रकार इन बारह भावनाओं के स्वरूप को अच्छी तरह समझ कर इन को बारंबार भाना, इन पर विचार करना मनोनिग्रह का मुख्य कारण है। इन के मनन से संसार तथा शरीर भोगों से बैराग्य होता है व अपने आत्मीक स्वभावों में प्रेम बढ़ जाता है। एक सम्यक् दृष्टि महात्मा संवर तत्व का चिन्तवन करते हुए इन बारह भावनाओं का विचार किया करता है, इस से उपादेय की रुचि तथा हेय की अरुचि उत्पन्न होती है। ज्यों २ विषय कषायों से मन हटता है, आत्मा निज स्वभाव की ओर झुकने लगता है। ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के विचारों को रोक कर के एक निजात्मा के ही गुण व पर्यायों का विचार करता हुआ, अपने आत्मा को पर से भिन्न समझता हुआ भेद विज्ञान का बार २ अभ्यास करता है, इस अभ्यास के प्रभाव से जब कभी भी उपयोग स्थिर होता है, तब स्वानुभव प्रकाश हो जाता है। यह स्वानुभव ही वास्तव में प्रचुर कर्मों को दग्ध करने के लिये अग्नि के समान है। ये ही जन्म जरा मरण रोगों के शमन की परम औषधि है, ये ही वह मंत्र है जो मोहरूपी विकराल सर्प को वश कर लेता है। ये ही वह नौका है जिस पर चढ़ कर साधक सीधा मोक्ष द्वीप की ओर बढ़ता चला जाता है, यही वह शस्त्र है जो कर्म शत्रुओं को खंड २ कर डालने मे समर्थ है, यही वह रस है, जिस के पीने से एक भव्य आत्मा अजर अमर हो जाता है। ऐसा जान प्रत्येक ममुक्षु को चाहिये कि इन बारह भावना का चिन्तवन अपने आत्मकल्याण के हेतु नित्य प्रति किया करे। जिन महात्माओं के चित्त में इन भावनाओं के भाव से बैराग्य की दृढ़ता हो जाती है वे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को चितारते हुए अपने चित्त को सदा निर्मल रखते हैं। विषयों की तृष्णा तथा विषय भोगों के वियोग से उन के परिणामों में मलीनता प्रवेश

नहीं कर पाती। अपने बांधे हुए कर्मों के उदय से यदि आपत्तियें आ जाती हैं या संपत्ति का संयोग हो जाता है तो दोनों दशाओं में समभाव रखते हैं। वे जानते हैं कि सब पुण्य पाप का खेल है, दोनों ही नाशवंत हैं। इन के संयोग वियोग में क्या हर्ष-विषाद करना? इन्हीं भावनाओं के सतत अभ्यास से वे संसार के ज्ञाता दृष्टा बने रहते हैं, दुःख व सुख में उन्मत्त नहीं होते।

अनेकान्त भावना

प्रत्येक वस्तु अनेक स्वभावों को एक काल में रखने वाली है, इसलिये वह अनेकान्त है। वस्तु किसी अपेक्षा से अस्ति स्वभाव है, किसी अपेक्षा नास्ति स्वभाव है, किसी अपेक्षा एक स्वभाव है, किसी अपेक्षा अनेक स्वभाव है, किसी अपेक्षा नित्य स्वभाव है, किसी अपेक्षा अनित्य स्वभाव है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का सिद्धान्त है, इसी के अनुसार जगत में कारण कार्य सब बन जाते हैं तथा कर्त्ता कर्म करण आदि कारक भी सिद्ध हो जाते हैं, एकान्तवाद में वस्तु स्वरूप बन ही नहीं सकता।

यदि वस्तु को सर्वथा नित्य माना जावे तो यह आत्मा किसी प्रकार के शुभ भावों को नहीं कर सकेगा, इसमें पुण्य बंध के कारण मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भाव न होंगे, न हिंसा झूठ आदि पापरूप अशुभ भाव होंगे जो पाप बन्ध के कारण हैं। न पापों का क्षय होगा न पुण्य का संचय होगा, क्रिया के अभाव में पुनर्जन्म कैसे होगा? सुख दुख का फल फिर कौन कब और कैसे भोगेगा? न तो कर्मबन्ध बनेगा और न कर्मों से मुक्ति ही बनेगी।

यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक मान लिया जावे कि क्षण भर में उसका बिल्कुल नाश ही होजाता है तो भी पुण्य पाप का कार्य

नहीं हो सकेगा, न तो परलोक सिद्ध होगा, न सुख दुख का फल कुछ सिद्ध हो सकेगा, न प्रत्यभिज्ञान होगा कि अमुक पदार्थ वही है जो पहले देखा था, न स्मरण ही कुछ चीज रहेगा, क्योंकि जानने वाले का तो नाश ही होगया। न ही किसी कार्य को प्रारम्भ ही किया जा सकेगा और न ही उसका कोई नतीजा निकल सकेगा। दोनों ही एकान्त पक्ष मानने से न भोजन ही तैय्यार हो सकता न क्षुधा ही मिट सकती है, केवल नित्य पक्ष के ही मानने से सर्व वस्तु सदैव एक सी रहेंगी और केवल अनित्य पक्ष को ही मान लेने से वस्तु का सर्वथा नाश ही हो जावेगा।

वास्तव में वस्तु किसी अपेक्षा से नित्य है और किसी अपेक्षा से उसी समय में अनित्य भी है। वस्तु नित्य है इस अपेक्षा से कि हमें ऐसा ज्ञान होता है कि यह वही है जिसे पहले देखा था यह वही पुरुष है जिसे हम पहले कई बार देख चुके हैं। यह वह ही कोठी या बंगला है जहाँ हम कल आये थे। ऐसा प्रत्यभि-ज्ञान कोई अकस्मात् नहीं होता है, किन्तु बराबर चला आता है। वस्तु अनित्य भी है इस अपेक्षा से कि काल द्रव्य के निमित्त से उसमें परिणमन क्षण २ में होता रहता है उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं, जो बालक था वह युवान होगया, तब ऐसी दशा में बालक पने का नाश हुवा और युवापना प्रगट हुवा तथापि जिस किसी में भी यह अनित्य पर्यायें हुईं वह वस्तु नित्य है। वस्तु में एक ही काल में उत्पाद व्यय ध्रुव यह तीनों बातें पाई जाती हैं। सामान्य स्वभाव की अपेक्षा तो स्थिरपना है, विशेष की अपेक्षा उत्पत्ति व नाश है। जैसे सोने के कुण्डल को तोड़ कर जंजीर बनाई तो सोना तो दोनों में सामान्य है। विशेष यह है कि कुण्डल का तो नाश हुवा और जंजीर की उत्पत्ति हुई। द्रव्य की अपेक्षा वस्तु नित्य भी है कथंचित

पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी है।

जीव व अजीव एक व अनेक रूप हैं। दोनों ही स्वभाव जीव में या अजीव में हर एक समय में पाये जाते हैं द्रव्य की अपेक्षा एक रूप है, पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप है। द्रव्य और पर्याय बराबर साथ २ पाये जाते हैं; जैसे मिट्टी द्रव्य है उसका घड़ा, प्याला, मटकना आदि अवस्थायें बनी, इन अवस्थाओं की अपेक्षा अनेक रूप है परन्तु उन सब में वही मिट्टी है इसलिये मिट्टी की अपेक्षा एक रूप ही है, कोई भी द्रव्य बिना परिणाम के नहीं रह सकता। परिणाम समय २ होते रहते हैं. परिणाम कभी सदृश होते हैं कभी विदृश होते हैं तथापि जिस द्रव्य में परिणाम होते हैं वह द्रव्य बना रहता है उसका नाश नहीं होता। यह जीव निगोद में था वही जीव एकेन्द्रिय, वेन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पशु होकर मनुष्य हुवा और मनुष्यगति से मोक्ष में चला गया। यहाँ भिन्न २ पर्यायों की अपेक्षा जीव अनेक रूप है तथापि द्रव्य वही है, जीव वही है। इस अपेक्षा से जीव एक रूप भी है। सांख्यमती वस्तु को कूटस्थ नित्य एक रूप ही मानते हैं, बौद्धमती क्षणिक ही मानते हैं। अनेकान्तवाद बताता है कि ये दोनों ही पक्ष एकान्त होने से ठीक नहीं हैं। अनेकान्त कहता है कि वस्तु कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा नित्य है कथंचित् पर्याय की अपेक्षा अनित्य है, समुदाय की अपेक्षा एक रूप है, कथंचित् गुण पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप है। इस प्रकार एक व अनेक रूप वस्तु को मानना ही सत्य है।

वस्तु कथंचित् संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा गुण पर्यायादि अनेक भेद रूप हैं, कथंचित् आदेश की अपेक्षा अभेद रूप है।

प्रत्येक जीव आदि पदार्थ अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल,

स्वभाव की अपेक्षा से अपनी सत्ता या मौजूदगी रखता है अर्थात् भावरूप या अस्तिरूप है। स्वद्रव्य से यहाँ प्रयोजन अखंड समुदाय अपने ही गुण व पर्यायों का है। स्वक्षेत्र से प्रयोजन है अपने ही प्रदेश व अपने ही क्षेत्र का जिसमें वह पदार्थ है। स्वकाल से प्रयोजन है प्रत्येक समय की अपनी अवस्था जो कालद्रव्य के निमित्त से हुवा करती है, स्वभाव से प्रयोजन है अपना ही स्वभाव व अपने ही गुण। इन चारों का समुदाय एक पदार्थ है—जैसे जीव द्रव्य का स्वद्रव्य अनन्त गुणादि का समुदाय एक अखंड पिंड है; स्वक्षेत्र उसी के असंख्यात प्रदेश हैं, स्वकाल उस जीव की वर्त्तमान अवस्था है या पर्याय है, स्वभाव उसके ज्ञानादि गुण हैं। हर एक जीव अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से है उसमें उसका अस्तित्व या भावपना है साथ में ही उसी समय अन्य सब जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल का अभाव है। इस प्रकार जीव स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप या भावरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप या अभाव रूप है। न वह सर्वथा भाव रूप है न वह सर्वथा अभाव रूप है।

इस प्रकार नयविवक्षा से प्रत्येक वस्तु में नित्य अनित्य, एक अनेक, भेद अभेद, भाव अभाव तथा अस्ति नास्ति आदिक अनेक विरोधी स्वभाव तो पाये ही जाते हैं, परन्तु जब इन ही स्वभावों को स्याद्वाद द्वारा बतलाया जाता है तो कोई विरोध नहीं रहता है, सर्व विरोध दूर हो जाता है (स्याद्वाद=स्यात् कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से ×वाद—वस्तु स्वरूप का कहना) जैसे एक पुरुष पिता भी है, पुत्र भी है, जब यह बात किसी को समझायेंगे तो कहेंगे "स्यात् पिता अस्ति" अर्थात् किसी अपेक्षा से (अपने पुत्र की अपेक्षा) पिता है, यहाँ स्यात् शब्द बताता है कि पिता के अतिरिक्त वह कुछ और भी है। फिर कहेंगे कि 'स्यात् पुत्रः

अस्ति"—अर्थात् किसी अपेक्षा से (अपने पिता की अपेक्षा से) पुत्र है। एक ही समय में वह पुरुष पिता व पुत्र दोनों हैं ऐसा दृढ़ करने के लिये तीसरा भंग कहा जाता है "स्यात् पिता पुत्रश्च"। किसी अपेक्षा से यदि दोनों का विचार करें तो वह पिता भी है, पुत्र भी है, वह पिता व पुत्र तो एक ही समय में है परन्तु शब्दों में, क्रमवर्ती होने के कारण, यह शक्ति नहीं है कि इन दोनों स्वभावों को एक साथ कहा जा सके, इसलिये चौथा भंग-"स्यात् अवक्तव्य" अर्थात् किसी अपेक्षा से यह वस्तु अवक्तव्य है, कथन गोचर नहीं है। यद्यपि वह पिता व पुत्र दोनों एक समय में ही है, परन्तु कहा नहीं जा सकता। सर्वथा अवक्तव्य नहीं है इसी बात को दृढ़ करने के लिये और तीन भंग बताये। "स्यात् पिता अवक्तव्यंच" अर्थात् किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पिता है; "स्यात् पुत्र अवक्तव्यंच" अर्थात् किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पुत्र है।

"स्यात् पिता पुत्रश्च अवक्तव्यंच" अर्थात् किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पिता व पुत्र दोनों है। इस प्रकार दो विरोधी स्वभावों को समझाने के लिये सात भंग शिष्यों को दृढ़ ज्ञान कराने के हेतु किये जाते हैं। वास्तव में उस पुरुष में तीन स्वभाव हैं— पिता बना, पुत्र बना व अवक्तव्य बना इन तीनों के सात भंग ही हो सकते हैं न छह, न आठ जैसे पिता, पुत्र, पितापुत्र, अवक्तव्य, पिता अवक्तव्य, पुत्र अवक्तव्य, पिता पुत्र अवक्तव्य। जिनको ज़रा भी ऊँचे दर्जे की गणित आती है वह Permcetation Combination के क़ायदे के अनुसार इसे आसानी से समझ सकते हैं।

मोटे रूप से इसे ऐसे समझ लीजिये कि हमने किसी को सफेद, काला, पीला तीन रंग के काग़ज़ दिये और उससे कहा कि इनसे भिन्न २ रंगों के पतंग बना दीजिये वह नीचे लिखे अनुसार

सात रंग के ही बना सकेगा—

१. सफेद, २. काला, ३. पीला, ४. सफेद काला, ५. सफेद पीला, ६. काला पीला ७. सफेद काला पीला। इससे कम अधिक नहीं बन सकते हैं।

आत्मा के स्वभाव को समझने को इस स्याद्वाद की बड़ी जरूरत है। आत्मा में अस्तित्व या भावपना अपने अखंड द्रव्य, अपने असंख्यात् प्रदेश रूप क्षेत्र, अपनी स्वाभाविक पर्याय रूप काल तथा अपने शुद्ध ज्ञानानन्द मय भाव की अपेक्षा है उसी समय इस अपने आत्मा में सम्पूर्ण अन्य आत्माओं के सर्व पुद्‌गलों के, धर्म, अधर्म, आकाश व काल के द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव का नास्तिपना व अभाव भी है। अस्तित्व के साथ नास्तिक यदि न हो तो यह आत्मा है; यह श्री भगवान महावीर का आत्मा है, अन्य नहीं है यह बोध ही न हो। आत्मा में आत्मपना तो है, परन्तु आत्मा में भाव कर्म रागादि, द्रव्य कर्म ज्ञानावर्णादि, नो कर्म शरीरादि इनका तथा अन्य सर्व द्रव्यों का नास्तित्व है या अभाव है, ऐसा जानने पर आत्मा का भेद विज्ञान होगा, आत्मानुभव हो सकेगा इसी को सात प्रकार से कहेंगे—

१. स्यात् अस्ति आत्मा, २. स्यात् नास्ति आत्मा, ३. स्यात् अस्ति नास्ति आत्मा, ४. स्यात् अवक्तव्यंच, ५. स्यात् अस्ति आत्मा अवक्तव्यंच, ६ स्यात् नास्ति अवक्तव्यंच, ७. स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यंच। इसी प्रकार यह आत्मा अपने द्रव्य व स्वभाव की अपेक्षा ध्रुव है नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। एक ही समय में आत्मा में नित्यपना तथा अनित्यपना दोनों स्वभाव हैं इसी को सप्त भंग द्वारा समझाया जा सकता है—

१. स्यात् नित्यं, २. स्यात् अनित्यं, ३. स्यात् नित्यं अनित्यं, ४. स्यात् अवक्तव्यं, ५. स्यात् नित्यं अवक्तव्यंच, ६. स्यात्

अनित्यं अवक्तव्यंच, ७. स्यात् नित्यं अनित्यं अवक्तव्यंच।

इसी प्रकार आत्मा अनंतगुणों का अभेद पिण्ड है इसलिये एक रूप है, वही आत्मा उसी समय ज्ञान की अपेक्षा ज्ञान रूप है सम्यक्त गुण की अपेक्षा सम्यक्त रूप है, चारित्र गुण की अपेक्षा चारित्र रूप है, वीर्य गुण की अपेक्षा वीर्य रूप है जितने गुण आत्मा में व्यापक हैं उनकी अपेक्षा आत्मा अनेक रूप है इसी के सप्तभंग इस तरह कहे जायेंगे—स्यात् एक:, स्यात् अनेक:, स्यात् एक: अनेकश्च, स्यात् अवक्तव्यं, स्यात् एक: अवक्तव्यंच, स्यात् अनेक: अवक्तव्यंच, स्यात् एक: अनेक: अवक्तव्यंच। यह संसारी आत्मा स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध है, उसी समय कर्म संयोग की अपेक्षा अशुद्ध है। इसके सात भंग इस प्रकार बनेंगे। स्यात् शुद्ध:, स्यात् अशुद्ध:, स्यात् शुद्ध: अशुद्ध:, स्यात् अवक्तव्यं, स्यात् शुद्ध: अवक्तव्यंच, स्यात् अशुद्ध: अवक्तव्यंच, स्यात् शुद्ध: अशुद्ध: अवक्तव्यंच।

स्याद्वाद के द्वारा किसी भी पदार्थ का अनेकान्त स्वरूप समझे बिना उस पदार्थ का यथार्थ सच्चा ज्ञान हो नहीं सकता। आत्मा के भेद विज्ञान के लिये तो यह अत्यन्त आवश्यक है। एकान्तवादी को आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है, अनेकान्ती ही आत्मा को जैसा है वैसा साधता है तथा अनुभव करता है। यह स्याद्वाद या अनेकान्त का सिद्धान्त अनेक एकान्त मत के धारियों का एकांत हठ छुड़ाकर उनमें परस्पर प्रेम व ऐक्यस्थापन करने का एक प्रबल साधन है। एक बार बहुत से जन्मांध पुरुष मिले, उन्होंने एक हाथी को देखना चाहा. उनमें से प्रत्येक ने हाथी को सर्वांग रूप से न देखा न जाना, एक ने हाथी की पूंछ को छूकर हाथी का रूप एक रस्से के आकार निश्चित किया जिसने केवल सूंड को छुवा उसने कहा हाथी मूसल सरीखा है, जिसने हाथी

के कानों को छुवा उसने हाथी को सूप आकार निश्चित किया, जिसने केवल उसकी टांग को छुवा उसने उसका रूप एकथम्भ सरीखा निश्चित किया, इस प्रकार नेत्र बिना सर्वांग हाथी का आकार न जाना। अपने २ निश्चयानुसार हाथी के रूप के भिन्न भिन्न अनेक प्रकार बताकर लगे आपस में वाद विवाद करने और झगड़ने। तब एक नेत्रवान् पुरुष जिसने हाथी के पूर्ण सर्वांग रूप को निश्चय किया हुवा था वहाँ आया व उसने यथार्थ हाथी का स्वरूप उनको समझाया, उनकी भिन्न २ एकांत कल्पनाओं को दूर किया, उनका भ्रम मिटाया और हाथी के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराया। ठीक इसी प्रकार एकान्तवादी एक ही वस्तु के अनेक अंगों को अपनी बुद्धि द्वारा जुदे २ अन्य प्रकार निश्चय कर बैठते हैं, सम्यक्ज्ञान बिना सर्वांग वस्तु को नहीं जान पाते, तब एक स्याद्वाद सिद्धान्त का वेत्ता सम्यक्ज्ञानी स्याद्वाद के द्वारा यथार्थ वस्तु का स्वरूप निर्णय कर उनकी भिन्न भिन्न मिथ्या कल्पनाओं का दूर करता है और उनका झगड़ा, वाद विवाद वगैरह मिटाता है। श्री अमृतचन्द्र सूरि ने अनेकांत के सम्बन्ध में फर्माया है—

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यंध सिन्धुरविधानम्।
सकल नय बिलसितानां विरोधमथनंनमाम्यनेकान्तम्॥
(पु० सि० २)

अर्थात् मैं वस्तु के अनेक स्वभावों को बताने वाले अनेकान्त सिद्धान्त को इसीलिये नमस्कार करता हूँ कि यह परमागम का बीज अर्थात् सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ झलकाने के लिये परम उच्च साधन है, जन्म के अंधों के हाथी के सम्बन्ध में एकान्त रूप मिथ्याज्ञान को दूर करके उनको यथार्थ ज्ञान कराने वाले के समान एकान्तवादियों की मिथ्या भ्रमोत्पादक कल्पनाओं को

दूर कर उनको अनेकान्तवादी बनाने वाला है। समस्त नयों के द्वारा प्रकाशित जो वस्तु स्वभाव उनके परस्पर विरोध को दूर करने वाला है।

इस प्रकार जो आत्मतत्व की प्राप्ति करना चाहते हैं उनको उचित है कि वे अनेकान्त को समझकर वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा ही मानें, तब ही यथार्थ वस्तु का लाभ हो सकेगा, यह स्याद्वाद का सिद्धान्त ही सर्वथा एकांत को हटाने वाला है, भिन्न २ अपेक्षा से वस्तु को बनाने वाला है, यही सात प्रकार से कहा जाता है, इसीसे हेयोपादेय का ज्ञान होता है, ये ही मुख्य गौण कथन से सत्य का ग्रहण व असत्य का त्याग करने वाला है। जीव वस्तु अनेकान्त से अनेक रूप झलकती है पर्यायों की अपेक्षा अनेक रूप व क्षण भंगुर। द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा एक रूप व अविनाशी। प्रदेशों के विस्तार की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी, लोक प्रमाण ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी, वर्तमान प्रदेशों की अपेक्षा शरीर प्रमाण इत्यादि अनेक रूप से वस्तु को जानकर सम्यकदृष्टि आत्मा के स्वभाव का ही भोक्ता होता है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव वही कर सकता है जो स्याद्वादनय से अनेकान्त स्वरूप आत्मा को भले प्रकार समझता हो और जो संयमी हो अर्थात् रागादि अशुद्ध परिणाम को मेट कर शुद्ध भावों में सन्मुख हो। जिसका मन इन्द्रिय विषयों में व अनेक मानसिक संकल्प विकल्पों में उलझा रहता है वह शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता इसलिये अनुभव कर्त्ता के लिये जरूरी है फिर वह निरंतर समस्त कार्यों से ममता हटा कर आत्मा का चिन्तवन किया करे, एकान्तनय के मर्म से रहित हो। अर्थात् मात्र शुद्ध स्वरूप के ज्ञान से ही मोक्ष हो जायेगा या मात्र बाहरी श्रावक या मुनि की क्रिया पालने से ही मोक्ष हो जावेगा। इस एकान्त

पक्ष को छोड़कर जो ज्ञान और क्रिया दोनों को परस्पर एक दूसरे का सहायक समझता है कि शुद्ध स्वरूप का ज्ञान चारित्र पालने में सहायक है, बिना स्वात्मानुभव के चारित्र कुचारित्र है, तथा चारित्र पालना परिणामों की चंचलता मेटने में कारण है। इस तरह ज्ञान और चारित्र सहित वर्तन करता हुवा ही मोक्ष के साधन भूत स्वानुभवमई एक शुद्ध भाव को आश्रय करता है। शुद्ध आत्मानुभव के बार २ अभ्यास करने से ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश होजाता है और केवलज्ञान रूप सूर्य का उदय होजाता है, तब अरहन्त अवस्था में यह जीव परम वीतराग निराकुलताभाव में तिष्ठा हुवा शुद्ध आत्मीक आनन्द का विलास करता है, फिर चारों अघातिया कर्मों का नाश हो जाने पर सिद्ध पद को प्राप्त होता है। ये ही जिनेन्द्र का मत है यह मार्ग साक्षात् मोक्ष का सरल अकाट्य व श्रेय उपाय है।

यह स्याद्वाद का ही माहात्म्य है कि इसके सतत् अभ्यास से अपना आत्मा सर्व अनात्म द्रव्यों से व सर्व रागादि नैमित्तिक भावों से जुदा भासता है और उस आत्मा का पृथक् अनुभव होता है। स्याद्वाद का प्रयोजन यथार्थ वस्तु स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करना व अन्य को प्राप्त कराना है। इस प्रकार एक मुमुक्षु के लिये जरूरी है कि वह सदैव अनेकान्त भावना को भावे, इसका बार बार मनन करने पर वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ में आजावेगा। तात्पर्य यह है कि अपनी आत्मा को सदा से ही निश्चय नय से शुद्ध परमात्मा के समान वीतरागी तथा आनन्द-मई और ज्ञाताद्रष्टा निश्चय कर उसके शुद्ध चिदानन्द स्वभाव के अनुभव में लय होकर आत्मा को अनादिकाल से चले आये कर्म बन्धन से छुड़ाना चाहिये और मोक्ष के अविनाशी, अवि-कार, अव्याबाध सुख को प्राप्त करना चाहिये।

समयसार भावना

"नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकाशते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्व भावान्तरच्छिदे ॥"

चेतन अचेतन जीवादि सकल पदार्थों में सारभूत उपादेय शुद्ध आत्मा (समयसार) को नमस्कार होवे। कैसा है वह शुद्ध आत्मा शास्वतरूप है, सर्वस्व ज्ञान चेतैना स्वभाव का धारक है, निराकुलत्व लक्षण, शुद्धात्म परिणमन रूप अतीन्द्रिय सुख का स्वामी है। भूत, भविष्यत्, वर्तमानकाल सम्बन्धी सकल पर्यायों सहित अनन्तगुण संयुक्त समस्त जीवादि पदार्थों का एक समय मात्र में युगपत् प्रत्यक्ष देखने जानने वाला है ।

इस श्लोक में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार कहिये शुद्धात्मा को ही नमस्कार किया है क्योंकि शुद्धात्मा में द्रव्य कम, भाव कर्म तथा नो कर्म आदि का कोई मैल नहीं है, वह निज स्वभाव में स्थित सर्वज्ञ सर्वदर्शी है तथा वीतराग है, सर्वज्ञ वीतराग होते हुवे भी वह सदैव निरन्तर निज स्वभाव में ही मग्न रहते हुवे आत्मीक अविनाशी स्वाधीन सुख का आस्वादन करता है। इस षट्द्रव्यमई लोक में शुद्ध आत्मा ही परम हितकारी है, क्योंकि वह शुद्ध ज्ञान तथा स्वाधीन आनन्द का स्वामी है इसलिये उसके उपासक जो उसको जानकर उसके स्वरूप का अनुभव करते हैं वे स्वयं भी आत्मज्ञान तथा आनन्द को प्राप्त होते हैं। आचार्य वर ने शुद्धात्मा (समयसार) को नमस्कार करके भावना की है कि उनकी आत्मा भी कर्ममल रहित हो परमात्म पद को प्राप्त होवे—सत्य है भक्त की गाढ श्रद्धा और भक्ति ही उसको उसके ध्येय की प्राप्ति में प्रबल कारण हुवा करती है।

जीव नामा वस्तु का एक असाधारण शुद्ध अविनाशी चेतना स्वभाव इसकी दो परिणति हैं शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध दर्शन ज्ञानोपयोगरूप परिणमना तो शुद्ध परिणति है, इसको शुद्ध भाव भी कहते हैं। कर्म के निमित्त से राग द्वेष मोहादिक विभावरूप परिणमना अशुद्ध परिणति है, इसको अशुद्धभाव कहते हैं। कर्म का निमित्त अनादिकाल से चला आरहा है इसलिये अशुद्ध भाव-रूप परिणमन भी अनादिकाल से चल रहा है, इसी भाव से शुभ अशुभ कर्म का वन्ध होता है और उस बंध के उदय से फिर अशुद्ध भाव रूप परिणति होती है। इस प्रकार अनादिकाल से यह सिलसिला चला आरहा है। जब कभी इष्टदेव की भक्ति, जीवदया, परोपकार, मन्द कषाय रूप परिणति जीव की होती है तो इस जीव के शुभ कर्म का बन्ध होता है, उसके निमित्त से देवादिक पर्याय की प्राप्ति हो कुछ सांसारिक सुख मिलता है। जब इस जीव के परिणाम विषय कषायरूप तीव्र होते हैं तो इसके पाप का बन्ध होता है, उसके उदय से नर्कादिक अशुभ पर्याय को पाकर दुखी होता है। इस प्रकार इस चतुर्गति रूप संसार में यह जीव अनादिकाल से राग-द्वेष-मय अशुद्ध भावों के कारण भ्रमण करता रहता है, जब कभी काललब्धि का संयोग होता है कि इस जीव को जिनेन्द्र देव सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के उपदेश की प्राप्ति होती है और उस उपदेश का श्रद्धान, रुचि, प्रतीति और आचरण करता है तब आत्मा पर का भेदज्ञान कर शुद्ध अशुद्ध भावों के स्वरूप को भली भांति जान अपने हित अहित का श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण करता है और शुद्ध दर्शन ज्ञान मई शुद्ध चेतना के परिणमन को तो हितकारी जानता है और निश्चय करता है कि इस परिणति का फल संसार की निवृत्ति तथा मोक्ष है, और अशुद्ध भावों का फल संसार है।

ऐसा निश्चय करने के पश्चात् शुद्ध भाव के ग्रहण करने का तथा अशुद्ध भाव के त्याग का उपाय करता है। वह उपाय क्या है ? उस उपाय का स्वरूप निश्चय व्यवहारात्मक सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्र स्वरूप मोक्ष मार्ग वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने फर्माया है। निश्चय मोक्षमार्ग तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप के श्रद्धान ज्ञान चारित्र को कहते हैं और व्यवहार मोक्षमार्ग जिनेन्द्र प्रभु सर्वज्ञ वीतरागदेव तथा उनके द्वारा प्रतिपादित आगम और उस आगम के अनुसार प्रवर्त्तने वाले मुनि श्रावक इन सब की भक्ति वंदना वैय्यावृत्य करने को कहते हैं, ये मुमुक्षुओं को मोक्ष मार्ग में प्रवर्त्तावने में उपकारी हैं, उपकारी का उपकार मानना न्याय है, उपकारी का उपकार लोपना अन्याय है, कृतघ्नता है। निज स्वरूप के साधक अहिंसा आदि पंच महाव्रत और रत्नत्रय रूप प्रवृत्ति समिति गुप्ति रूप प्रवर्त्तना, अपने चारित्र में दूषण लगने पर अपनी निंदा गर्हादिक करना, गुरु का दिया हुआ प्रायश्चित लेना, शक्त्यानुसार तप करना, परीषह सहना, दशलक्षण धर्म में प्रवर्त्तना इत्यादि शुद्धात्मा के अनुकूल क्रियारूप प्रवर्त्तना, इत्यादि प्रवृत्ति आगमोक्त व्यवहार मोक्षमार्ग है। जब तक इस व्यवहार चारित्र में कुछ राग का अंश होता है शुभ कर्म का बंध होता है, परन्तु साधक के इस प्रकार बंधे हुवे शुभ कर्म के फल की इच्छा का अभाव होने के कारण यह अबंध तुल्य है। व्यवहार मोक्षमार्ग निवृत्ति प्रधान होने के कारण निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है, बाधक नहीं है। "जो आप अपने का श्रद्धान, ज्ञान व आचरण करता है वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मई आत्मा मोक्ष का कारण है" व्यवहार से देखा जावे तो आत्मा दर्शन ज्ञान चारित्र तीन रूप मालूम होता है, निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा को एकाकार व सर्व पर-

भाव से रहित परम शुद्ध ही अनुभव करना योग्य है, मोक्ष की सिद्धि का यही उपाय है अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता है।

इस व्यवहार रत्नत्रय के प्रभाव से निश्चय रत्नत्रय का लाभ हो ऐसी भावना करनी योग्य है—अपने शुद्ध आत्म स्वरूप की भावना करनी सो वास्तव में निश्चय रत्नत्रय की भावना है। शुद्धात्मा की भावना ही मोक्षार्थी जीव के लिये उपादेय अर्थात् कार्यकारी है। जो अपने निजरूप को सत्यार्थपने जानता है और भावता है वही प्रतिबुद्ध है, वही ज्ञानी है। यद्यपि भावना करने वाला पर्याय अपेक्षा शुद्ध नहीं है, तथापि निश्चयनय से अपनी शक्ति की भावना ही आत्मा की शक्ति को प्रगट करने के लिये समर्थवान् है। जो कोई सर्व पर-द्रव्य, परभाव और परपर्यायों से भिन्न शुद्ध, ज्ञाताद्रष्टा, अमूर्तिक, चैतन्यमय, आत्म स्वरूप में लीन होता है, वही अभेद रत्नत्रय का लाभ लेकर, निश्चय से यथार्थ मोक्षमार्गी हो कर्मबन्ध का नाश करता है उसका मोहजाल टूटता है, उसी की आत्मशुद्धि बढ़ती है, निज अनुभूति जागृत होती है, वो ही अपने निजानन्द रूप स्वाभाविक रस में रसिक हो परम अद्भुत स्वाद को पाता है और अविनाशी पद को प्राप्त होता है। जैसा उपादान अर्थात् मूल कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। जिस स्वरूप में तन्मय हुवा जाता है, वैसा ही स्वरूप प्राप्त होगा, जो कोई ज्ञानी शुद्धोपयोग की भावना करेगा वह शुद्ध होगा। और जो अशुद्धो-पयोग की भावना करेगा वह अशुद्ध होगा। जो कोई भी भेदज्ञानी शुद्धात्मा को विकल्पों को त्याग करके ध्याता है वह शीघ्र ही शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है।

आत्मानुभव के प्राप्त करने के लिये योगी या संयमधारी मुनि या गृहस्थ को उचित है कि निश्चय नय के द्वारा इस षट्

द्रव्य मयी जगत को देख कर समता भाव अपने चित्त में पैदा करे, व्यवहार दृष्टि से देखने पर जो पदार्थ इष्ट अनिष्ट जान पड़ते हैं, उन में राग द्वेष तथा मोह न करे, भेद विज्ञान के बल से आत्मा के स्वरूप को उपादेय और अनात्मा के स्वरूप को हेय समझे तथा जहां पर चित्त क्षोभ के कारण न हों ऐसे एकांत स्थान में कायोत्सर्ग या पद्मासन या अन्य किसी आसन में स्थित हो कर अपने स्वरूप में अपने उपयोग को हेय पदार्थों से हटा कर जोडे, इस तरह अपने ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप को बड़ी सावधानता पूर्वक निद्रा तथा प्रमाद से बचाता हुआ बारंबार भावे—अनुभव करे—आत्म रस का स्वाद ले, इसी रीति से अभ्यास करते २ स्वानुभव या स्वसंवेदन या स्वसंवित्ति स्वयम् हो जाती है। इस प्रकार बार २ चिंतवन करने से भावना करने से अपना आत्मा सिद्ध परमात्मा समान मालूम होता है। भावना के लिये कहा है:—

गाथा—जस्स ण कोहो माणो माया लोहोय सल्ल लेसाओ।
जाइ जरा मरणं विय णिरंजणो सो अहं भणिओ॥ १९
णत्थि कला संठाणं मग्गणा गुणठाण जीव ठाणाइं।
णइ लद्धि बंध ठाणा णोदय ठाणाइया केई॥ २०
फास रस रूव गंधा सद्दादीया य जस्सणत्थि पुणो।
सुद्धो चेयण भावो णिरंजणो सो अहं भणिआ॥ २१
मल रहिओ णाणामओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो॥ २६॥
णोकम्म कम्म रहिओ केवल णाणाइ गुण समिद्धो जो।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एको णिरालंबो॥ २७॥

सिद्धोहं सुद्धोहं अणंत णाणाइ गुण समिद्धोहं
देह पमाणो णिचो असंख देसो अमुत्तोय ॥ २८ ॥

(तत्वसार-देवसेन आचार्य)

भावार्थ:-जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न लेश्या है, न जन्म है, न जरा है, न मरण है—वही निरंजन कहा गया है सो ही ये है न जिस के औदारिकादि पांच शरीर हैं, न सम चतुश्रयादि छह संस्थान हैं, न गति इन्द्रियादि चौदह मार्गणायें हैं, न मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थान है, न जीवस्थान एकेन्द्रियादि चौदह जीव समास हैं, न कर्मों के क्षयोपशम से होने वाली लब्धि स्थान है, न कर्मों के बंध स्थान है, न कोई उदय स्थान है, न जिस के कोई स्पर्श, रस, वर्ण, गंध, शब्द आदि हैं, परन्तु जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है सो ही निरंजन है, सो ही मैं हूँ। कर्मादि मल से रहित ज्ञान मई सिद्ध भगवान जैसे सिद्धक्षेत्र में निवास करते हैं वैसे ही मेरी देह में स्थित परम ब्रह्म को समझना चाहिये। जो नोकर्म, भाव कर्म और द्रव्यकर्म से रहित केवल ज्ञानादि गुणों से पूर्ण, शुद्ध, अविनाशी, एक, आलंबन रहित, स्वाधीन सिद्ध भगवान् हैं सो ही मैं हूं, मैं ही सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणों से पूर्ण हूँ, अमूर्त्तिकहूँ, नित्यहूँ, असंख्यात प्रदेशी हूँ, और देह प्रमाण हूँ। इस प्रकार अपनी आत्मा को सिद्ध परमात्माके समान वस्तु स्वरूप की अपेक्षा जानना चाहिये। निश्चय नय के वेत्ता श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने भी ऐसा ही फर्माया है:—

"वर्णाद्या वा राग मोहादयो वा, भिन्ना भावाः सर्वएवास्य पुंसः
तेनैवान्तस्तत्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टिमेकं परंस्यात् ॥

वर्णादि सामान्यमिदं बिदन्तु निर्माण मेकस्यहि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नास्मि यतः सविज्ञान घन
स्तमतोऽन्यः ॥ ७ ॥

भावार्थः—ये वर्ण रस गंध स्पर्शादि भाव या राग द्वेषादि भाव ये सब इस आत्मा से भिन्न भाव हैं, इसी लिये जब तत्व दृष्टि से या निश्चय नय से अन्तरंग में देखते हैं तो ये कोई भी नहीं दीखते वहां तो केवल एक उत्कृष्ट आत्मा ही दिखाई देता है। ये वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जितनी सामग्री हैं उन की रचना पुद्गल के द्वारा होती है ऐसा जानो। इस लिये यह सब पुद्गल ही हैं, आत्मा नहीं हैं, क्योंकि वह तो विज्ञान स्वरूप है और इसी लिये इन से अन्य है।

भावना करने वाला विचारता है:—

श्लोक—एकोहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्र गोचरः।
वाह्या संयोगजा भावा मत्तःसर्वेपि सर्वथा ॥
(इष्टोपदेश २७)

अर्थात्–मैं एक सब से भिन्न हूँ; ममत्व रहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगीन्द्रों के द्वारा जानने के योग्य हूँ, पर के संयोग से होने वाले सब ही भाव मेरे स्वभाव से बाह्य हैं।

श्लोक–येनात्मनाऽनुभूयेऽह मात्मनैवात्म नात्मनि।
सोहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥
यद्भावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थिते पुनः।
अतीन्द्रिय मनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २४॥
यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।

अहमेव मयपोस्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥ ३१

(श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक)

भावार्थ—जिस स्वरूप में मैं अपने में अपने द्वारा अपने को अपने समान ही अनुभव करता हूँ वही मैं हूँ, न मैं पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ, न नपुंसक हूँ, न मैं एक हूँ, न दो हूँ, न मैं बहुवचन हूँ । जिस स्वरूप के न जानने से मैं सोया हुआ था व जिस स्वरूप के जानने से मैं जाग उठा यह मेरा स्वरूप इन्द्रिय गोचर नहीं है, कथन योग्य नहीं है मात्र मैं अपने से ही अनुभव गोचर हूँ । जो कोई परमात्मा है, वह मैं ही हूँ, तथा जो मैं हूँ, वही परमात्मा का स्वरूप है इसलिये मैं ही अपनी आराधना करता हूँ और किस की सेवा करूं यही सत्य बात है ?

श्लोक—अजमेकं परं शान्तं, सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ॥
सएवामृत मार्गस्थ सएवामृतमश्नुते ।
सएवार्हन् जगन्नाथः सएव प्रभुरीश्वरः ॥

(पद्मनंदिमुनि) एक स्तवसप्तति

अर्थ—जो कोई अपने आत्मा को अजन्मा, एक अकेला, परम पदार्थ शान्त स्वरूप, सर्व रागादि उपाधि से रहित, आत्मा ही के द्वारा जान कर आत्मा में स्थिर तिष्ठता है वही मोक्ष मार्ग में चलने वाला है, वही अमृत मई आनन्द को भोगता है वही पूज्यनीय, वही जगत का स्वामी, वही प्रभु, वही ईश्वर है ।

तदेकं परमंज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकंनिर्मलं तपः ॥ ३६ ॥
नमस्यञ्च तदेवैकं तदेवैकञ्च मङ्गलम् ।

उत्तमञ्च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ॥ ४० ॥
तदेवैकं परं तत्वं तदेवैकं परं पदम् ।
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवकं परं महः ॥ ४४ ॥
संसार घोर धर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः ।
यंत्र धारा ग्रहं शान्तं तदेव हिमशीतलम् ॥ ४७ ॥
तदेव महती विद्या स्फुरन्मन्त्रस्तदेवहि ।
औषधं तदपिश्रेष्ठं जन्म व्याधि विनाशनम् ॥ ४६ ॥
अहं चैतन्य मेवैकं नान्यत्किमपि जातु चित् ।
सम्बन्धोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममे दृशः ॥ ५४ ॥
शरीरादिबहिश्चिन्ता चक्र सम्पर्कवर्जितम् ।
विशुद्धात्मस्थितं चित्तं कुर्वन्नास्ते निरंतरम् ॥ ५५ ॥

अर्थः—शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है, सो ही उत्कृष्ट ज्ञान है, सो ही पवित्र सम्यक् दर्शन है, सो ही एक निर्मल चारित्र है, वही एक निर्मल तप है ॥ ३६ ॥

वही चैतन्य स्वरूप आत्मा नमस्कार करने योग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम पदार्थ है, सज्जनों के लिये वही एक शरण का स्थान है ॥ ४० ॥

चिदानंद स्वरूप आत्मा है, वही एक उत्कृष्टतत्व है, वही एक परम पद है, वही भव्य जीवों के द्वारा आराधने योग्य है, वही एक परम ज्योति है । ४४ ।

संसार रूपी आताप से सदा तप्तायमान प्राणी के लिये वह चिदानंद स्वरूप आत्मा ही हिमालय के समान शीतल यंत्रधारा-ग्रह (फव्वारों का घर) है । ४७ ।

चिदानंद स्वरूप आत्मा है, सो ही महान् विद्या है सो ही प्रकाशमान मंत्र है, तथा वही संसार रूपी रोग को नाश करने वाली औषधि है ॥ ४६ ॥

ज्ञानी विचारता है कि मैं एक चैतन्य स्वरूप हूँ, और कोई कदापि नहीं हूँ, मेरा किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा ऐसा दृढ़ निश्चय है। वह शरीरादि बाहरी पदार्थों की चिंता के सम्बन्ध से रहित हो कर शुद्धात्मा में चित्त को स्थिर करता हुआ निरंतर विराजता है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

ज्ञानी को उचित है कि वह आत्मा के स्वरूप की ऐसी भावना करे कि वह आठ कर्मों तथा उन के कार्यों से जुदा है, चैतन्यमई है, नित्य है व नित्य आनंदमई पद को देने वाला है।

श्री नागसेनमुनि तत्वानुशासन में फर्माते हैं:—

"तदेवानुभवंश्चाय मेकाग्रयं परमृच्छति
तथात्माधीनमानंद मेति वाचामगोचरं ॥"

अर्थात्—जो कोई अपने आत्मा को अनुभव करता हुआ परम एकाग्र भाव को प्राप्त कर लेता है वह बचन अगोचर स्वाधीन सहजानन्द को प्राप्त कर लेता है। वही आचार्य फर्माते हैं:—

नमुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किन्तु स्वस्थः प्रतिक्षणं ॥
त्रिकाल विषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेष मुदास्ते सतदा प्रभुः ॥
अनंत ज्ञान दृग्वीर्य तृष्णयमय मव्ययं ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातींद्रियमच्युतः ॥

भावार्थ—शुद्ध दशा में यह आत्मा न मोह करता है, न संशय

करता है, न अपने जानने योग्य पदार्थ में भ्रम भाव रखता है, न राग करता है, न द्वेष करता है किन्तु प्रति समय अपने स्वरूप में लीन है। तीन काल सम्बन्धी समस्त जानने योग्य पदार्थ जैसे हैं उन को वैसे ही तथा अपने को भी देखते जानते हुए वह प्रभु वीतराग बने रहते हैं। अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, तथा तृष्णा का अभावमयी अविनाशी अतीन्द्रिय तथा अव्यय स्वाभाविक सुख को वे अनुभव करते हैं।

श्री योगेन्द्राचार्य योगसार में कहते हैं:—

जो परमप्पो सो जिहउं जे हउं सो परमप्पु।
इउजाणे विणु जोइआ अण्ण न करहु वियप्पु॥ २२॥

भावार्थ—जो परमात्मा है वही मैं हूँ, जो मैं हूँ, वही परमात्मा है, अर्थात् मेरा स्वरूप परमात्मा रूप है। हे योगी? ऐसा जान कर और विकल्प न कर।

सुद्ध पएसह पूरियउ लोयायास पमाणु।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु॥ २३

भावार्थ—यह आत्मा शुद्ध प्रदेशों से पूर्ण है, लोकाकाश प्रमाण है, इसी आत्मा का रात दिन मनन करो, शीघ्र निर्वाण का लाभ होगा।

सुद्धसचेयण बुद्ध जिणु केवल णाणसहाउ।
स्ते अप्प अणुदिन मुणहु जइचाहउ सिवलाहु॥ २६

भावार्थ—आत्मा शुद्ध है, चैतन्य रूप है, बुद्ध है, जिन है, केवल ज्ञान स्वभाव है उसी का रात दिन मनन करो, जो मोक्ष का लाभ लेना चाहते हो।

जोणिम्मल अप्पा मुणइ वय संजमु संजुत्त।

तउ लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु ॥ ३०

भावार्थ—जो कोई व्रत संयम सहित हो कर निर्मल आत्मा को ध्याता है वह शीघ्र ही सहज सुख को पाता है, ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।

श्री शुभचन्द्रआचार्य ज्ञानार्णवमें फर्माते हैं:—

नित्यानन्द मयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम् ।
पश्यत्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीय मनव्ययम् ॥ ३५ ॥ १८ ॥

भावार्थ—मैं नित्य सहजानन्दमय हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्य हूँ, सनातन हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, अनुपम हूँ, अविनाशी हूँ, ऐसा ज्ञानी अपने में आप को देखता है।

अनन्तवीर्य विज्ञान दृगानन्दात्मकोऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्ष विषद्रुमम् ॥ १३-३१

भावार्थ—मैं अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख रूप ही हूँ, क्यों मैं अपने प्रतिपक्षी कर्म रूपी विष के वृक्ष को आज उखाड़ न डालूंगा?

अतीन्द्रियमनिर्देश्य ममूर्त्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानंदमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मान मात्मना ॥ ६६-३२

भावार्थ—हे आत्मन्! तू आत्मा को आत्मा ही में आप ही से जान कि मैं अतींद्रिय हूँ, बचनों से कहने योग्य नहीं हूँ, अमूर्तीक हूँ, कल्पना रहित हूँ, व चिदानंद मयी हूँ।

चिद्रूपः केवलःशुद्ध आनंदात्मेत्यहं स्मरे ।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपितः ॥ २२-३

भावार्थ—मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, असहाय हूँ, शुद्ध हूँ, सहजा-

नन्दमय हूँ, ऐसा स्मरण कर। मुक्ति के लिये सर्वज्ञ का जो उपदेश है उसे आधे श्लोक में कह दिया है।

चिद्रूपोऽहं समे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः।

भवक्षितिर्हितं मुक्ति निर्यासोऽयं जिनागमे॥ ११-६ ॥

भावार्थ—मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, इस लिये मैं उसी को देखता हूँ, उसी से मुझे सहज सुख प्राप्त होता है। जिनागमका भी यही निचोड़ है कि शुद्ध चिद्रूप के ध्यान से संसार का नाश व हितकारी मुक्ति प्राप्त होती है।

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्म विक्रमः॥ १२-३१ ॥
साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम्।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्द मन्दिरम्॥ २२-३१ ॥
विश्वरूप मविज्ञात स्वरूपं सर्वदोदितम्।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करुणाच्युतम् २३-३१ ॥
निःशेष भव सम्भूत क्लेशद्रुम हुताशनम्।
शुद्धामत्यन्त निर्लेपं ज्ञानराज्य प्रतिष्ठितम्॥ २४-३१ ॥
विशुद्धा दर्श सक्रान्त प्रतिबिम्ब समप्रभम्।
ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम्॥ २५ ॥ ३१ ॥
विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वन्द्वं निर्गतामयम्।
अप्रमेयं परिच्छिन्नं विश्वतत्वव्यवस्थितम्॥ २६-३१ ॥
यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणात्।

तत्त्वभावात्मकं साक्षात्स्वरूपं परमात्मनः ॥ २७-३१ ॥

भावार्थ—निश्चय नय से आत्मा का स्वरूप परमात्मा के समान है। यह ज्ञानाकार है तथा अमूर्तिक है, हलन चलन क्रिया रहित है, परम अविनाशी है, निर्विकल्प है, निष्कम्प है, नित्य है, आनन्द का मंदिर है, ज्ञानापेक्षा सर्व व्यापी है, अज्ञानी उस के स्वरूप को नहीं जान सकते हैं, सदा उदय रूप है, कृत कृत्य है, कल्याण रूप है, शांत है, शरीर रहित है, इन्द्रियों से अतीत है, समस्त संसार के क्लेश रूपी वृक्षों को जलाने के लिये अग्नि के समान है, शुद्ध है, कर्मलेप से रहित है, ज्ञान रूपी राज्य में स्थित है, निर्मल दर्पण में प्राप्त प्रतिबिम्ब की तरह प्रभावान है, ज्ञान ज्योतिमय है, महावीर्यवान है, पूर्ण है, पुरातन है, सम्यक्त्वादि मुख्य आठ गुण (सम्यक् ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व) सहित है, उपाधि रहित है, रोगादि रहित है, प्रमाण अगोचर है, ज्ञानियों द्वारा जानने योग्य है, सर्व तत्वों का निश्चय करने वाला है, जो बाहरी इन्द्रियादि से ग्रहण करने योग्य नहीं है, अन्तरंग भावों से क्षणमात्र में ग्रहण करने योग्य है, ऐसा स्वभाव इस परमात्म स्वरूप आत्मा का है।

अवाग्गोचर मव्यक्त मनन्तं शब्द वर्जितम् ।
अजंजन्म भ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयत् ॥ ३३-३१ ॥

भावार्थ—आत्मा का स्वरूप वचन गोचर नहीं है, इन्द्रियों से प्रगट नहीं है, अनंत है, शब्द रहित है, जन्म रहित है, भव भ्रमण से रहित है, निर्विकल्प है, ऐसा विचारे।

यःस्वमेव समादत्ते नादत्तेयःस्वतोपरम् ।
निर्विकल्पः सविज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ॥ २७-३२ ॥

योविशुद्धः प्रसिद्धात्मा परंज्योति सनातनः।
सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम्॥ ३५-३२॥
अतीन्द्रिय मनिर्देश्य ममूर्तं कल्पनाच्युतम्।
चिदानन्दमयं त्रिद्धि स्वस्मिन्नात्मा नमात्मना॥ ६६-३२॥

भावार्थ—ज्ञानी ऐसा ध्याता है कि जो आने को ही ग्रहण करता है तथा जो अपने से पर है उसको ग्रहण नहीं करता है ऐसा मैं आत्मा हूँ, उसमें कोई विकल्प नहीं है, ज्ञानमय है तथा केवल एक अकेला है, और अपने से ही अनुभव गम्य है। जो विशुद्ध है, प्रसिद्ध आत्मा है, परम ज्ञानमय ज्योति स्वरूप है सनातन है सा ही मैं हूँ, इसलिये इस अविनाशी आत्मा को मैं अपने में ही देखता हूँ। हे आत्मन्! तू आत्मा को आत्मा ही में आत्मा ही के द्वारा जान कि यह अतीन्द्रिय है, वचनों द्वारा कथन योग्य नहीं है, अमूर्त्तीक है, कल्पना से रहित है, चिदानंद मयी है।

निखिलभुवन तत्वोद्भासनैक प्रदीपं
निरुपधि मधिरूढं निर्भरानन्द काष्ठाम्।
परम मुनि मनीषोद्भेद पर्यंत भूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव॥१०३-३२॥

भावार्थ—हे आत्मन्! तू अपने आत्मा से ही इस प्रकार शुद्ध अनुभव कर कि यह आत्मा सर्व लोक के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करने वाला अद्वितीय प्रदीप है तथा अतिशय सहजानंद की सीमा को उपाधि रहित प्राप्त हुवा है तथा परम मुनि की बुद्धि से प्रगट उत्कृष्टता पर्यन्त जिसका स्वरूप है।

सोऽहं सकल वित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः।

परमात्मा परंज्योति विश्वदर्शी निरंजनः ॥२८-४०॥
तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः ।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यान ध्यातृ विवर्जितः ॥२६-४०॥

भावार्थ—इस प्रकार अपने को ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूँ मैं ही सर्वज्ञ हूँ, मैं सर्व व्यापक हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं ही साध्य हूँ, संसार से रहित हूँ, श्रेष्ठ आत्मा हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, विश्वदर्शी हूँ, निरंजन हूँ, तब अपना स्वरूप ऐसा झलकता है कि यह अमूर्तिक है, निष्कलंक है, जगत में श्रेष्ठ है, चैतन्य मात्र है व अतिशय करके ध्यान ध्याता के विकल्प से रहित है।

श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरंगिणी में फर्माते हैं:—

न देहो हं न कर्माणि न मनुष्यो न द्विजोऽद्विजः ।
नैव स्थूलो कृशोनाहं किंतु चिद्रूप लक्षणः ॥५-१०॥
नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्ध चिद्रूपकं विना ।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ॥१०-४॥

भावार्थ—न मैं देह हूँ, न अष्टकर्म हूँ, न मनुष्य हूँ, न मोटा हूँ, न दुबला हूँ, किन्तु मैं तो एक चैतन्य स्वरूप लक्षण धारी हूँ। इस जगत में शुद्ध चैतन्य के सिवाय न तो मैं कुछ हूँ और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है, इसलिये शुद्ध चैतन्य रूप को छोड़ कर और कुछ चिंता करना वृथा है, इसलिये मैं उसी में लीन होता हूँ।

भावार्थ के लिये और भी कहा है:—

तथाहि चेतनोऽसंख्य प्रदेशो मूर्ति वर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्ध रूपोऽस्मिज्ञान दर्शन लक्षणः ॥

नान्योस्मिनाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं नमे परः ।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेवम ॥
अन्यच्छरीरमन्योहं चिदहं तदचेतनं ।
अनेकमेतदेकोऽहं चयीदमहमक्षयः ॥
अचेतनं भवेनाहं नाहमप्यस्त्य चेतनं ।
ज्ञानात्माहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ॥
योऽत्रस्वस्वामि संबंधो ममाभूद्वपुषासह ।
यश्चैकत्वभ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः ॥
जीवादि द्रव्य याथात्म्य ज्ञानात्मक मिहात्मना ।
पश्यन्नात्मन्यथात्मानमुदासानोऽस्मि वस्तुषु ॥
सद्द्रव्यस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्तः ॥
सन्नेवाहं सदाप्यस्मि स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असन्नेवास्मि चात्यंतं पररूपाद्यपेक्षया ॥
यन्नचेतयते किंचिन्नाचेतयत किंचन ।
यच्चेतयिष्यते नैवतच्छरीरादि नास्म्यहं ॥
यद चेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा ।
चेतनोयंपयदत्राद्य तच्चिद् द्रव्यं समस्म्यहं ॥
स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत् ।
नोऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता ॥
मत्तःकायादयोभिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्वतः ।

नाऽह मेषां किमप्यस्मि ममाप्ये तेन किंचन ॥
एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः ।
विधाय तन्मय भावं न किंचिदपि चिंतये ॥

भावार्थ—यह आत्मा असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तीक, चैतन्य स्वरूप, शुद्ध, सिद्ध समान है, जिस का लक्षण दर्शन और ज्ञान है—ऐसा जो मैं सो मैं अपनी आत्मा सिवाय अन्य नहीं हूँ, न दूसरा कोई मुझ रूप है, न मैं दूसरे का हूँ न दूसरा कोई मेरा है, जो अन्य है सो अन्य है, मैं हूँ सो मैं ही हूँ। अन्य अन्य का है, मैं अपना ही हूँ। शरीर मुझ से भिन्न है, मैं उस से भिन्न हूँ। मैं चेतन हूँ, शरीर अचेतन है। मैं एक अखंड हूँ, शरीर परमाणुओं का समुदाय रूप अनेक है। मैं अविनाशी हूँ यह देह नाशवंत है। मैं कभी अचेतन नहीं होता हूँ, न अचेतन मुझ रूप होता है, मैं ज्ञान स्वरूप हूँ, मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है, न मैं दूसरे किसी का हूँ। जो कोई मेरा शरीर के साथ स्वामी पना मानने का सम्बंध व जो उस के साथ एकता का भ्रम था सो यह तो मिथ्यात्व कर्म के निमित्त से था अपने स्वभाव से नहीं था। मैं अपने ही द्वारा अपने में जीवादि द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले आत्मा को अनुभव करता हुआ समस्त पदार्थों में उदासीन हूँ। मैं सत् द्रव्य हूँ, चैतन्यमई हूँ, मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ, सदा ही उदासीन हूँ, मैं अपने शरीर के प्रमाण आकार रखते हुए भी शरीर से आकाश के समान भिन्न अमूर्तिक हूँ। मैं अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अन्यन्त ही असत् हूँ। जो कोई कुछ भी नहीं समझता है व जिस ने कुछ नहीं समझा या जो कोई नहीं समझेगा वह शरीरादि जड़ है किन्तु मैं नहीं हूँ। जिस ने पहले समझा था, जो अब समझता है वह जो आगे भी समझेगा वह

चैतन्य द्रव्य मैं ही हूँ। यह जगत स्वयं मेरे लिए न इष्ट है न अनिष्ट है किन्तु अपेक्षा के योग्य है। मैं स्वयं न इस को इष्ट मानता हूँ न अनिष्ट मानता किन्तु अपेक्षा रखता हूँ, यथार्थपने मुझ से शरीरादि भिन्न हैं, मैं उन से भिन्न हूँ। न मैं उन का कोई हूँ न वे मेरे कोई हैं। इस ऊपर लिखे प्रमाण अपने आत्मा को भले प्रकार निश्चय कर के कि यह अन्य सब से भिन्न है, अपनी आत्मा से तन्मयी भाव धारण करके कुछ भी नहीं चिंतवन करे। इस तरह बारंबार ध्यान का अभ्यास करने से स्वसंवेदन रूप स्वात्मानुभव अवश्य झलकता है।

और भी भगवान् कुंदकुंद फर्माते हैं:—

गा०—एकोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसण लक्खणो।
सुद्धे यत्तमुपादेय मेवं चिंतेइ सव्वदा ॥ २० ॥

(द्वादशानुप्रेक्षा)

भावार्थ—मैं निश्चय से एक अकेला हूँ, मेरा कोई भी अन्य नहीं है, मैं शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हूँ तथा शुद्ध भाव की एकता से ही अनुभव करने योग्य हूँ, ऐसा ज्ञानी सदा चिंतवन करता है।

गा०—परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मि ठिदा सब्भावे मुणिणो पावंतिणिव्वाणं ॥ (१५८)

समयसार

भावार्थ—आत्मा निश्चय से परम पदार्थ है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है, उसी के स्वभाव में जो लय होते हैं, वे मुनि निर्वाण प्राप्त करते हैं।

गा०—अहमिक्को खलुसुद्धो य णिम्ममो णाण दंसण समग्गो।

तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥ ७८ ॥
समयसार

भावार्थ—मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्व रहित हूँ, ज्ञान दर्शन से पूर्ण हूँ, मैं अपने शुद्धात्मा के स्वरूप में स्थित होता हुआ व उसी में तन्मय होता हुआ इन सर्व ही क्रोधादि भावों को नाश करता हूँ।

गा०—णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमत्ता णेवकत्तीणं ॥ ७१ ॥
(प्रव० सार)

णाहं होमि परेसं ण मे परे सन्ति णाणमहमेको।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ १०३

भा०—निश्चय नय से मैं आत्मा अकेला हूँ, न मैं देह हूँ, न मैं बचन हूँ, न मैं मन हूँ, न मैं मन बचन काय का कारण हूँ, न मैं इन का कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ, न करने वालों की अनुमोदना करता हूँ।

ज्ञानी जानता है कि निश्चय से न मैं शरीरादि का हूँ, न शरीरादि मेरे हैं। मैं तो एक ज्ञानस्वरूप शुद्ध हूँ, ऐसा जो ध्यान में ध्याता है वही आत्मध्यानी होता है।

गा०—एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदिय महत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णहं अप्पगंसुद्धं ॥ १०४ ॥
देहा वा दविणावा सुह दुक्खा वाऽध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्सणसंतिधुवा धुवोवओगप्पगोअप्प ॥ १०५ ॥

भा०—मैं अपने आत्मा को ऐसा मानता हूँ, कि यह आत्मा पर भावों से रहित निर्मल है, निश्चल एक रूप है, ज्ञान स्वरूप

है, दर्शनमयी है, अतींद्रिय है, महान् पदार्थ है, निश्चल है तथा परद्रव्य के आलंबन से रहित स्वाधीन है।

औदारिक आदि पांच शरीर अथवा धन धान्यादिक अथवा इष्ट अनिष्ट पंचेन्द्रियों के सुख तथा दुख अथवा शत्रु मित्र आदि लोक कोई भी इस जीव के नहीं हैं, ये सब नाशवंत हैं, जब कि जीव ज्ञान दर्शन स्वरूप अविनाशी द्रव्य है।

एगोमे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
से सामे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा॥ ५९॥
(भाव पाहुड़)

भा०—मेरा आत्मा एक अकेला है, अविनाशी है, ज्ञान व दर्शन लक्षण धारी है, रागादि सर्व भाव मेरे नहीं हैं, वे सब कार्य संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

गा०—कत्ताभोइअमुत्तो सरीर मित्तो अणाइ निहणोय।
दंसण णाणुवओगो णिदिट्ठो जिणवरिंदेहिं॥ १४८॥
(भाव पाहुड़)

भा०—यह जीव निश्चय से अपने ही शुद्ध भावों का कर्त्ता है व शुद्ध भावों का भोक्ता है, अमूर्त्तीक है, शरीर प्रमाण आकार धारी है, ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

मोक्षपाहुड़ में भी भगवान् कुंदकुंदाचार्य फर्माते हैं:—

गा०—दुट्ठट्ठ कम्मरहियं अणोवमं णाण विग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणंहवइसद्दव्वं॥ १८॥
सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोय दरसीय।
सो जिण वरेहिं भणियो जाणंतुमं केवलं णाणं॥ ३५॥

भा०—यह आत्मा एक सत् द्रव्य है, दुष्ट आठ कर्मों से रहित

है, अनुपम है, ज्ञानाकार है, अविनाशी है, शुद्ध है, ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्वलोक दर्शी है, यही केवलज्ञानमय है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

णिच्छयणयस्स एव अप्पाअप्पम्मिअप्पणो सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्ता जाई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

भा०—निश्चय नय का यह अभिप्राय है कि जो आत्मा आत्मा ही में आत्मा ही के लिये भले प्रकार लीन होता है वही स्वरूपाचरण रूपी चारित्र को पालता हुवा निर्वाण को प्राप्त होता है।

स्वात्मानुभव करने से पहले साधक भावना करता है:—

इक्को सहावसिद्धो सोहं अप्पा वियप्प परिमुक्को।
अण्णोणमज्झ सरणं सरणं सो एक परमप्पा ॥ २५ ॥

(कल्लाणालोयणा)

भावार्थ—जो सर्व विकल्पों से रहित एक रूप स्वभाव स्थित आत्मा है सो ही मैं हूँ, मैं और किसी की शरण में नहीं जाता हूँ, एक शुद्ध आत्मा यही मेरे लिये शरण है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य फ़र्माते हैं:—

अनाद्यनन्त मचलं स्वसंवेद्यमवाधितम्।
जीवः स्वयम् तु चैतन्य मुच्चैश्चकचकायते ॥

भावार्थ—शुद्ध दृष्टि से देखते हुए यही आत्मा जो अपने शरीर में है यह बिल्कुल सिद्ध परमात्मा के समान है, निश्चल अबाधित चैतन्य स्वरूप प्रकाशमान है, तथा जिस का स्वाद आप ही अपने को आ सकता है अन्य कोई उस के स्वाद देने में सहायक नहीं है।

छन्द—आत्म स्वभावं परभावभिन्नमापूर्ण माद्यन्त विमुक्तमेकं।
विलीन सङ्कल्प विकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्यु-
देति ॥ १० ॥

(समयसार कलश)

भावार्थ—निश्चय दृष्टि से देखते हुए यह आत्मा अनादि अनन्त सर्व रागादि विकार व सर्व भेद रहित एक अखंड ज्ञानानंद मय परम स्वभाव धारी ही दिखता है इसी दृष्टि के बार २ अभ्यास से स्वानुभव होता है।

शार्दूल छन्द—भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किलकोप्यऽहोकलयति व्याहत्य मोहं हठात् ॥
आत्मात्मानुभवैक गम्य महिमा व्यक्तोऽयमास्तेध्रुवं।
नित्यं कर्मकलङ्क पङ्क विकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

(समयसार कलश से)

भावार्थ—जो बुद्धिमान भेद ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को तीनकाल के बंध के संस्कार से रहित मान कर व मोह भाव को दूर कर के अपने ही अन्तरंग में अनुभव करता है उस को यही झलकता है, कि मैं आत्मा नित्य ही सर्व कर्म मल से रहित परम देव हूँ। वास्तव में मेरी महिमा अनुभव गोचर है, उस की कोई उपमा नहीं दी जा सकती, न उस का वचनों से वर्णन ही हो सकता है। वास्तव में जिस को देखना, जानना, श्रद्धना व अनुभव करना, स्वाद लेना है वह आप ही है। जब शुद्ध निश्चय के बल से अपने को परमात्म स्वरूप गाढ भावना के साथ माना जावेगा तब स्वयम् स्वानुभव प्राप्त होगा और तब ही उस स्वानुभव द्वारा निश्चय से मुक्ति-प्राप्ति होगी।

पृथ्वीछन्द—अखण्डित मनाकुलं ज्वलदनन्तमन्त र्बहिर्महः परममस्तुनः सहजमुद्विलासं सदा। चिदुच्छलन निर्भरं सकल काल मालम्बते यदेकरसुमुल्लसल्लवणाखिल्य लीलायितं ॥१४॥

भावार्थ—ज्ञानी ऐसी भावना करता है कि मुझे उस आत्मानुभाव का अनुभव प्राप्त हो जिस आत्मा का ज्ञान एक स्वभाव अखंडित है, उसमें मतिज्ञानादिक के भेद नहीं हैं, व जिसमें किसी प्रकार के राग द्वेष का क्षोभ नहीं, जो आत्मानन्द को देने वाला है तथा जो आत्मा के सर्व आकार में सब जगह परिपूर्ण प्रकाशमान है व जिसके समान और कोई इस लोक में नहीं। जिसके प्रकाश के लिये किसी पर वस्तु की सहायता की आवश्यकता नहीं है, जिसमें चेतना का एक सामान्य स्वाद ऐसा भरा है जैसे लवण की डली में खारपन भरा होता है। स्वानुभव ही परमानन्दमई एक रस उसी का स्वाद हमें निरन्तर प्राप्त हुवा करे।

यद्यपि भेद रूप कथन करने वाली व्यवहार दृष्टि से आत्मा को दर्शन रूप, ज्ञान रूप व चारित्र रूप देखा जाता है तथापि यह आत्मा इन तीनों से अभेद रूप एक ही अखंड ज्ञान समुदाय परम निर्मल पदार्थ है ऐसा ही अनुभव करना उचित है, मोक्ष की सिद्धि का यही एक मात्र उपाय है, अन्य कोई उपाय न तो है और न हो सकता है। एक आत्मार्थी विचारता है कि आत्मा का स्वरूप शुद्ध चेतन रूप है यह कभी भी शरीर रूप व कर्म रूप व रागादि रूप नहीं हो सकता है, अपने ही घट रूपी सरोवर में वह चेतन राम परम परमात्मा विराजमान है, मेरा अपना आत्मा चैतन्य शक्ति का धारी है सर्व ही सार गुण उस में विद्यमान है। मैं अनन्त सुखी हूँ, मैं अनंतवीर्यवान हूँ, मैं परम वीत-

राग हूँ, मेरे शुद्ध आत्मा के शुद्ध गुणों को छोड़ कर अन्य सभी अशुद्ध भाव और जो कुछ स्थूल या सूक्ष्म शरीर का मेरे से सम्बन्ध है वे सब मेरे से भिन्न अचेतन जड़ पदार्थों में रचे होने के कारण मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं। आत्मा ही मोक्ष रूप है, निज आत्मा का अनुभव करना—स्वाद लेना ही वास्तव में कर्मों से छूटने का एक उपाय है, श्रीमद् अमृतचन्द्र आचार्य फरमाते हैं:—

शार्दूल०—सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितै मोक्षार्थिभिःसेव्यतां
शुद्धं चिन्मय मेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ॥
एते येतु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग् लक्षणा
स्तेहं नाऽस्मि यतोऽत्र ते मम पर द्रव्यं समग्रा अपि ॥

भावार्थ—मोक्षार्थी पुरुष को यही सिद्धान्त मानना चाहिये कि मैं एक शुद्ध चैतन्य मात्र ज्योति हूँ। ऐसा ही सदा से था व सदा ही रहूँगा। रागादि परभावों का स्वरूप मलीन है मैं परम पवित्र हूँ, यही अनुभव स्वरूप विकास का कारण है, परभाव से शून्य हो कर स्वात्मध्यान ही मोक्ष का हेतु है।

और भी फर्माते हैं—

एको मोक्षपथो य एष नियतोदृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मक
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्य स्पृशन्
सोऽवंश्यंसमयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥

भावार्थ—जो एक अपने ही शुद्ध आत्मा को ध्याता है, स्मरण करता है अनुभव करता है वही शीघ्र नित्य उदय रूप परमात्म पद को प्राप्त होता है। शुद्धात्मा का ध्यान ही निश्चय रत्नत्रय मई मोक्ष मार्ग है। इस के सिवाय और कोई मार्ग हो नहीं सकता।

यही सर्व विकल्प रहित मात्र स्वानुभवगम्य है।

श्री भावपाहुड़ में श्री कुंदकुन्द फर्माते हैं:—

अप्पाअप्पमि रओ रायादिसु सयल दोस परिचत्तो।
संसार तरण हेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ८५ ॥
(भावपाहुड़)

भावार्थ—जो आत्मा रागादिक समस्त दोषों से रहित हो कर अपने में ही रत होता है, ऐसे धर्म को ही जिनेश्वर देवने मोक्ष का कारण कहा है।

उपर्युक्त कथनानुसार जब एक मुमुक्षु बारंबार अपने शुद्ध स्वरूप की भावना भाता है वह विचारता है कि मैं स्वभाव से सिद्धरूप विकल्प रहित आत्मा हूँ। रस रूप गंध, स्पर्श से रहित, अव्याबाध तथा अनंत ज्ञान मई हूँ, मैं अपने ज्ञानादि गुणों से भिन्न नहीं हूँ, किन्तु अन्य विकल्पों से भिन्न हूँ तथा स्वभाव से ही आनंदमई हूँ। मैं शुभ अशुभ भावों से दूर हूँ, तथा शुद्ध स्वभाव से तन्मय हूँ। वही शुद्ध व परम आत्मा मेरे लिये शरण है, अन्य कोई शरण नहीं है, वास्तव में स्वसमय ही संतोषप्रद है।

इस प्रकार शुभ तथा अशुभ समस्त राग-द्वेष भाव के नाश करने के लिये तथा अपने स्वाधीन शुद्धात्मपद को प्राप्त करने के लिये सर्व रागादि की उपाधि से रहित सहजानन्दमई एक लक्षण धारी सुखामृत स्वभावमई निज आत्म द्रव्य में ही भावना करनी योग्य है। इस से मन की प्रवृत्ति परभावों से हट कर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर हो जावेगी, स्वात्मानुभव जाग जावेगा तथा परम पद की प्राप्ति होगी।

इस समयसार भावना का मनन इस लिए किया जाता है, कि भावक का भाव वीतराग रूप शुद्ध हो जावे। यद्यपि आत्मा स्वभाव से शुद्ध ज्ञान चेतनामय है तथापि अनादि काल से कर्मों

के बंधन में होने से मोह कर्म के उदय के कारण रागी द्वेषी हो रहा है। वास्तव में प्रत्येक भव्य जीव का हित इसी में है कि उस को शुद्ध आत्मीक भाव का स्वाद आया करे, क्योंकि इस स्वाद में अनुपम आनन्द है, इस से आत्मा के पूर्वबद्ध कर्म भी झड़ जाते हैं। रागद्वेषमय भावों में सच्चा सुख नहीं, इन से तो आत्मा में कर्मबन्ध होता है–आत्मा के शुद्ध स्वरूप के ध्यान, मनन विचार आदि से परिणति निर्मल होती है। निज आत्म रस की प्राप्ति के लिये, अपने आत्मा में शान्ति पहुँचाने के लिये तथा अपनी आत्मा में निजात्मज्ञान प्राप्त करने के लिये इस अपने आत्मा को परम शुद्ध पद प्राप्त कराने वाली भावना का कथन किया गया है। यह भावना आत्मा की मोक्ष रूप स्वतंत्रता को देने वाली है, कर्म बंधन से होने वाली आत्मा की परतंत्रता को हरण करने वाली है, आधि व्याधि आदि समस्त रोगों को दूर कर सुख और शान्ति को देने वाली है, संसार रूपी रोग को नाश करने वाली और स्वर्ग मोक्ष को देने वाली है। कहा है:--

विरम विरम संगान्मुञ्चमुञ्च प्रपंचं
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्वम्।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुषार्थंनिर्वृतानन्द हेतोः ॥ ४२-१५ ॥
अतुलसुखनिधानं ज्ञान विज्ञानबीजं
विलय गतकलङ्कं शान्त विश्व प्रचारम्।
गलित सकल शङ्कं विश्वरूपं विशालं
भज विगत विकारं स्वात्मनात्मान मेव ॥ ४३-१५ ॥

(सारसमुच्चय-कुलभद्राचार्य)

भा०–हे आत्मन् ! तू परिग्रह से विरक्त हो, विरक्त हो, जगत् के प्रपंच को छोड़ छोड़, मोह को विदा कर विदा कर, आत्म तत्व को समझ समझ, चारित्र का अभ्यास कर अभ्यास कर, अपने आत्म स्वरूप को देख देख, तथा मोक्ष सुख के लिये पुरुषार्थ को बार बार कर।

हे आत्मन् ! तू अपने ही आत्मा के द्वारा, अनन्त सुख समुद्र, केवल ज्ञान के बीज, कलंक रहित, निर्विकल्प, निःशंक, ज्ञानापेक्ष विश्व व्यापी तथा निर्विकार आत्मा को ही भज, उसी का ही ध्यान कर।

इस प्रकार जो ज्ञानी जीव अपने आत्मा को कर्म की उपाधि से भिन्न व सर्व पर पदार्थों से भिन्न अनुभव करते है, वे ही शुद्ध ज्ञान चेतना का स्वाद पाते हैं, वे ही परम समता भाव में विराजमान होकर शीघ्र ही निर्वाण को पाते हैं।

ये ज्ञानमात्र निजभावमयीमकम्पां
भूमि श्रयन्तिकथमप्यपनीतमोहाः ।
तेसाधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धाः
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति ॥

भावार्थ—जो महात्मा किसी भी तरह मोह को दूर करके इस निश्चल ज्ञान मात्र आत्मीक भाव की भूमि का आश्रय लेते है, वे मोक्ष के साधन को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं। अज्ञानी इस आत्मभूमि को न पाकर संसार में भ्रमण करते रहते हैं।

जैन धर्मानुसार आत्मा एक है, नित्य है, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला है यद्यपि आत्मा शरीर में निवास करता है किन्तु शरीर से बिल्कुल जुदा है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों में केवल ये ही एक चेतन द्रव्य है। यह

अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का भंडार है। अनादि और अनन्त है, शरीर प्रमाण है। यद्यपि सब आत्माओं का अस्तित्व जुदा २ है, किन्तु गुणों की अपेक्षा उन में कोई अंतर नहीं है। सब ही आत्मायें अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतसुख और अनंत वीर्य के भंडार हैं। अशुद्ध दशा में उन के ये गुण ज्ञानावरणादि कर्मों से ढके रहते हैं। मन वचन काय इन तीनों योगों की चपलताई से तथा क्रोध मान माया लोभ इन चार कषायों के निमित्त से जो कर्म वर्गणायें (पुद्गलपरमाणु) आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं उन्हें कर्म कहते हैं। जीव और कर्म का संबंध अनादि सांत है—कर्मों के कारण ही आत्मा की अनेक दशायें होती हैं, कर्मों के कारण ही इस आत्मा को शरीर में रहना पड़ता है। इस कर्म कलङ्क को ध्यान रूपी अग्नि में भस्म करके आत्मा को शुद्ध आत्मा या समयसार बनाया जाता है। वास्तव में यह आत्मा ही परमात्मा है किंतु कर्म बंध के कारण यह परमात्मा नहीं बनता। ज्यों ही यह आत्मा, अपने को अपने द्वारा जान लेता है, परमात्मा बन जाता है। स्वाभाविक गुणों की अपेक्षा से आत्मा और परमात्मा में कोई अंतर नहीं है। जब आत्मा कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है तो उस के आनन्द का पारावार नहीं रहता। संसार और मोक्ष ये आत्मा की दो अवस्थायें हैं और दोनों एक दूसरे से बिल्कुल विरुद्ध हैं। संसार जन्म और मरण का प्रतिनिधि है तो मोक्ष उन का विरोधी, संसार दशा में आत्मा कर्मों के चुंगल में फंसा रहता है, और नरक, पशु, मनुष्य तथा देव इन चारों गतियों में भ्रमण करता फिरता है, किंतु मोक्ष उस से विपरीत है उसे पंचम गति भी कहते हैं। जब आत्मा चौदह गुण स्थानों में से हो कर समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है तो उसे मोक्ष या पंचम गति की प्राप्ति हो जाती है। संसार दशा में कर्म

आत्मा की शक्ति को प्रगट नहीं होने देते, किन्तु मुक्तावस्था में, जहाँ आत्मा स्वयम् परमात्मा बन जाता है, और अनन्त ज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनन्त वीर्य का धारक होता है, आत्मा की सर्व ही शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित हो कर प्रकट हो जाती हैं।

आत्मा की तीन अवस्थायें होती हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उनमें से जब तक प्रत्येक संसारी जीव की अचेतन पुद्गल पिंडरूप शरीरादि विनाशीक पर पदार्थों में आत्म बुद्धि रहती है या आत्मा जब तक मिथ्यात्व अवस्था में रहता है तब तक वह "बहिरात्मा" कहलाता है। शरीरादिक में आत्म बुद्धि का त्याग एवं मिथ्यात्व का विनाश होने पर जब आत्मा सम्यक् दृष्टि होजाता है तो "अन्तरात्मा" कहलाता है। उसके तीन भेद हैं-उत्तम अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा, जघन्य अन्तरात्मा। अन्तरंग तथा बहिरंग के समस्त परिग्रह का त्याग करने वाले, विषय कषाय को जीतने वाले तत्वज्ञानी यतीश्वर "उत्तम अन्तरात्मा" होते हैं। देशव्रत का पालन करने वाले गृहस्थ, तथा छठे गुणस्थानवर्त्ती मुनि "मध्यम अन्तरात्मा" कहलाते हैं। अव्रति सम्यकदृष्टि "जघन्य अन्तरात्मा" कहलाते हैं। आत्म गुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नाम के चार घातिया कर्मों का नाश करके आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य नाम की अनन्त चतुष्टय रूप शक्तियों को प्रगट करने वाले "परमात्मा" कहलाते हैं, दूसरे शब्दों में अपनी स्वाभाविक शक्तियों को पूर्णरूप से विकसित करने वाले को 'परमात्मा' कहते हैं। परमात्मा के दो भेद हैं:—एक सकल परमात्मा, दूसरा निकल परमात्मा, जो चार घातिया कर्म मल से रहित होकर अनन्त ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय

रूप अन्तरंग लक्ष्मी तथा समवशरणादि रूप बाह्य लक्ष्मी को प्राप्त हुवे हैं, उन सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी आत्माओं को सकलपरमात्मा या अरहन्त कहते हैं। जो सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर देते हैं, वे लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं शाश्वत ज्ञान और सुख के आगार हैं, पुण्य और पाप से निर्लिप्त हैं, कृत-कृत्य हैं उनको "निकल परमात्मा" या सिद्ध कहते हैं।

आत्मा अनन्त गुणों का पिंड है, परमात्मावस्था में उन सब गुणों के पूर्ण रूप से विकसित होजाने पर परमात्मा के उन गुणों की अपेक्षा से अनन्त नाम होते हैं, इसी कारण परमात्मा को, शुद्ध, बुद्ध, चिदानन्द, समयसार, अजर, अमर, अविनाशी, अविकार, निरञ्जन, अकलंक, सर्वज्ञ, वीतराग, परंज्योति आदि अनेक नामों से याद किया जाता है। वह निकल परमात्मा न तो इन्द्रिय गम्य है, और न केवल शास्त्राभ्यास से ही हम उसे जान सकते हैं, वह केवल निर्मल ध्यान का विषय है, ब्रह्म, परमब्रह्म, शिव, शांत आदि सब उसी के नामान्तर हैं। केवल निर्मल ध्यान से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार मलिन दर्पण में स्वच्छ रूप नहीं दिखाई देता, वैसे ही राग द्वेषादि मल से मलिन चित्त में परमात्मा का भान नहीं होता। उस परमात्मा पद की प्राप्ति के लिये चित्त की शुद्धि तथा निर्मल ध्यान के लिये ही समयसार भावना का भावन किया जाता है।

इस प्रकार एक मुमुक्षु को उचित है कि निश्चयनय की दृष्टि से सर्व आत्माओं को समय शुद्ध देख करके राग द्वेष मोहादि भावों को छोड़े तथा निर्विकल्प होने के लिये बाहरी पुत्र, मित्र, देश, ग्राम, शिष्य, मन्दिर तीर्थ आदि के विचारों को भीतरी अनेक ज्ञान के मति, श्रुत आदि भेदों को अथवा आत्मा

के गुणों के चिन्तवन को छोड़े। निश्चयनय के बल से अभेद एक अखंड आत्मा को अपने उपयोग के सामने लावे मन को उसी निज स्वरूप में जोड़ दे। इस प्रकार कर्मादि मल से रहित निज आत्मा रूपी देव का ध्यान करे। ध्यान स्थिरता को कहते हैं, अपने आत्मा मे स्थिरता पाने के लिये आत्मा के शुद्ध निश्चय स्वरूप की भावना उपकारी है। भावना करते २ मन जब यकायक स्थिर हो जाता है तब आत्मा का ध्यान या अनुभव पैदा हो जाता है। ध्यान उत्तम संहनन वालों के ही जब अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकता तब हम हीन संहनन वालों के वह यदि थोड़ी देर भी टिके तो उस से हमें कोई हानि नहीं होती, लाभ ही होता है। भावना बहुत देर तक रहती है, ध्यान बीच २ में कुछ समय तक रह सकता है।

एक मुमुक्षु विचारता है कि सिद्ध भगवान शुद्ध आत्मा का साक्षात् नमूना है। जैसा नमूना है ठीक वैसा ही मैं अपने स्वभाव से हूँ, मेरे में और सिद्ध में कोई भी अन्तर नहीं है, मैं ने निश्चय नय से द्रव्य की अपेक्षा अपने को सिद्ध समान जाना और अनुभव किया है। मैं मनन कर रहा हूँ कि जैसे सिद्ध में अष्ट कर्म नहीं हैं वैसे मेरे में भी नहीं हैं। जैसे सिद्ध के रागादि भाव कर्म, नहीं हैं वैसे मेरे में भी रागादि विभाव नहीं हैं। जैसे सिद्ध के कोई औदारिक वैक्रियक आहारक व तैजस शरीर रूपी नोकर्म नहीं हैं वैसे मेरे में भी नहीं हैं, जैसे सिद्ध शुद्ध अनंतज्ञान दर्शन वीर्य सुख सम्यक् आदि स्वाभाविक गुणों से पूर्ण हैं, वैसा ही मैं हूँ। जैसे सिद्ध परम निर्मल हैं, अविनाशी हैं वैसा ही मैं हूँ। जैसे सिद्ध अपनी सी सत्ता से एक अकेले हैं व स्वाधीन हैं, वैसा ही मैं अपनी सत्ता से एक अकेला स्वाधीन हूँ।

सिद्ध के समान मैं भी अमूर्तीक वर्णादि रहित असंख्यात प्रदेश रखता हूँ, सिद्ध भी अन्तिम शरीर के प्रमाण आकार रखते हैं। मैं भी इस देह के बराबर आकार रखता हूँ, मैं अपने देह के भीतर प्रसरित वायु व आकाश में स्थित हूँ। इस तरह ज्ञानी ध्याता को उचित है कि अपने आत्मा को पूर्ण स्वतंत्र मनन करे। जैसे घट के अंदर शुद्ध निर्मल गंगाजल भरा होता है, वैसे ही मेरे शरीर के अंदर शुद्ध आत्मा तिष्ठा है। जैसे एक खाली घट के अंदर घटाकार आकाश है वैसे ही मेरे शरीर के अंदर अमूर्तीक आकाश के समान आत्मा है।

ऐसे ही द्रव्य स्वभाव विचार करे कि मेरे में न कभी कर्म-बंध था, न कभी है, न कभी होगा। आत्मा के स्वभाव से वर्णादि, गुणस्थानादि, मार्गणादि, राग मोहादि सब भाव भिन्न हैं, निश्चय से यदि आत्मा का स्वरूप देखा जावे तो इन में से किसी का भी पता इस में नहीं चलता, एक उत्कृष्ट शुद्ध स्वरूप ही दिखलाई पड़ता है। इस तरह मैं सिद्ध परमात्मा के समान परम शुद्ध निरंजन देव हूँ, मैं केवल निराला एक आत्मा हूँ, मेरे में सर्व ही पर का अभाव है। मैं सदा ही निरंजन निर्विकार हूँ, मनन के समय अशुद्ध नय को, व्यवहार नय को या पर्याय दृष्टि को गौण कर देना चाहिये, उस दृष्टि से काम न लेवे, क्योंकि अशुद्ध दृष्टि से आत्मा अशुद्ध दीखता है, यहां स्वतत्व का ध्यान करना है। जब शुद्ध दृष्टि से ही देखें तब तब ही अपना आत्मा शुद्ध दिखाई पड़ेगा। ऐसे ही बार २ आत्मा को शुद्ध दृष्टि से देखना भावना है। भावना ही ध्यान की माता है जैसे दूध को बिलोते बिलोते अकस्मात् मक्खन निकल आता है, वैसे ही शुद्धात्म रूप अपना मनन करते २ कभी अकस्मात् स्वात्मानुभव या स्वात्म-ध्यान हो जाता है। साधक को उचित है कि भावना भाने के

लिये निराकुल होकर समय निकाले और अभ्यास करे। आप ही साध्य है, आप ही साधक है। साधक भाव को कारण परमात्मा या कारण समयसार कहते हैं। साध्य भाव को कार्य परमात्मा या कार्य समयसार कहते हैं। मैं परमात्मा हूँ, यही मनन तथा ये ही अनुभव परमात्मा बनने का उपाय है। जैसा ध्यावे वैसा हो जावे, सम्यक् दृष्टि ज्ञानी को अपना शरीर ही सिद्धक्षेत्र दिखाई देता है। वह अपने देह रूपी मंदिर में साक्षात् सिद्ध परमात्मा को विराजमान देखता और अनुभव करता है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी सर्व पर से नाता तोड़ कर आप से आप का मनन करता है, ये ही स्याद्वाद विचार है। मैं स्वभाव से अपनी सत्ता रखता हूँ, उसी समय पर भावों की, पर पदार्थों को छोड़ अन्य सर्व चेतन अचेतन द्रव्यों की, कर्म, नोकर्म, भावकर्म की कोई सत्ता मेरे में नहीं है। मैं भावाभाव रूप हूँ। मनन के पश्चात् स्वानुभव के समय यह स्याद्वाद रूप विकल्प भी छूट जाता है, जाता रहता है। वास्तव में अपना निजपद केवल बाहरी क्रिया-कांड से कभी प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु सहज स्वाभाविक आत्मज्ञान के द्वारा सहज में ही प्राप्त हो सकता है। इस लिये जो भव्य जीव परमात्मपद प्राप्ति के अभिलाषी हैं उन के लिये जरूरी है कि वे निरंतर आत्मा के ज्ञानरूपी कला के बल से अपने शुद्ध पद का साधन करें, अर्थात् अपने आत्मा को शुद्ध सिद्धात्मक अनुभव करें, ये ही मोक्ष का उपाय है। शुद्धात्मा का ध्यान ही शुद्धात्मा के स्वरूप का प्रकाश करने वाला है। जो सिद्ध परमात्मा का स्वरूप है सो ही मैं हूँ, मैं ही निश्चय से शुद्धात्मा हूँ, ऐसी भावना शंका रहित हो कर करे। ये ही शुद्ध भावना मोक्ष का उपाय है।

जैसे कोई मनुष्य अपने प्यारे इकलौते पुत्र के खोये जाने

पर उस की खोज करता है, उस के खोये जाने की बात अपने मित्रों तथा संबंधियों से करता है, इधर उधर जगह २ चर्चा करता फिरता है, समाचार पत्रों में घोषणा छपवाता है, बड़ी उत्सुकता के साथ उस पुत्र के आने की बाट देखता है। हर समय उस के दिल में उस पुत्र की याद ताजा रहती है एक क्षण मात्र के लिये उसे बिसारता नहीं। ठीक उसी प्रकार एक निजात्म स्वरूप का जिज्ञासु सदैव बराबर आत्म स्वरूप की खोज के लिये दूसरों से आत्म-स्वरूप की ही बात किया करता है, विशेष ज्ञानियों से उस की ही चर्चा वार्ता किया करता है, अपने ही शुद्ध चिदानंद रूप आत्म स्वरूप की प्राप्ति की निरंतर भावना किया करता है और एक मात्र उसी में अपनी लौ लगाये रहता है। ऐसा होने पर ही उस की अज्ञान दशा मिटती है, बहिरात्म अवस्था को छोड़ अंतरात्मा बन परंपरा से परमात्म पद को प्राप्त करने के लिये समर्थ हो जाता है। जब यह अन्तर आत्मा अपने को सिद्ध समान शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता दृष्टा अनुभव करता हुआ अभेद-भावना के बल पर शुद्धात्म स्वरूप में तन्मय हो जाता है, तभी वह कर्म बन्धन से मुक्त हो स्वयम् परमात्मा बन जाता है।

वास्तव में समयसार भावना का यही फल है, जब सोऽहम् की दृढ़ भावना द्वारा परमात्म पद के साथ जीवात्मा की एकत्व बुद्धि हो जाती है, तभी इस जीव को अपनी अनंत चतुष्टय रूप निधि का ज्ञान होता है और वह अपने को वीतरागी परम आनंद स्वरूप मानने लगता है उस समय काल्पनिक क्षणिक सांसारिक सुख के कारण बाह्य पदार्थों से उस का मोह छूट जाता है, राग-द्वेष मंद होता चला जाता है, और अभेद बुद्धि से परमात्म स्वरूप की बार २ भावना भाते हुये तथा चिंतवन करते २ आत्मा

अपने निज शुद्ध स्वरूप में स्थिर हो जाता है। ये ही आत्म-लाभ कहलाता है और इसी के फल स्वरूप आत्मा अनन्त काल तक निराकुल, अविनाशी, अव्याबाध, अनुपम, स्वाधीन, स्वाभाविक सुख का भोक्ता हो जाता है। इस प्रकार यह समयसार भावना बड़ी ही उपयोगी है; इस के द्वारा अपने आत्मा में परमात्मपद के संस्कार डालने चाहियें। जो भव्य जीव भ्रमोत्पादक मिथ्यात्व बुद्धि को त्याग परमात्म स्वरूप में निष्ठावान होता है अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को अपना निज स्वरूप श्रद्धान कर तथा जान कर उस के आराधन में तत्पर एवं सावधान होता है वह संसार के बन्धनों से छूटता हुआ केवल ज्ञान मय परम सुख को प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुष संसार में रहते हुए भी क्षण भर के लिये भी शुद्ध चिद्रूप के स्वरूप से विचलित नहीं होते, प्रतिक्षण वे शुद्ध चिद्रूप का ही चिन्तवन करते रहते हैं। शुद्ध चिद्रूप के स्मरण करने वाले पुरुष के ही समस्त पापों का नाश, सर्वोत्तम धर्म की वृद्धि और मोक्ष का लाभ हुआ करता है, इस लिये मुमुक्षुओं को चाहिये कि वे यथायोग्य साधन जुटा कर शुद्ध चिद्रूप के स्मरण का अवश्य प्रयत्न करें अर्थात् समयसार भावना की शरण ग्रहण करें।

समाप्तम्

सेन्ट्रल इण्डिया प्रेस, क्लौथ मार्केट, देहली।